स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला

श्रीकृष्ण योग पद्धति

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

श्रीकृष्ण योग पद्धति



WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

श्रीकृष्ण योग पद्धति

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग, मुंगेर में 15 से 18 फरवरी 2012 में आयोजित
योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के दौरान दिये गये प्रवचनों का संकलन



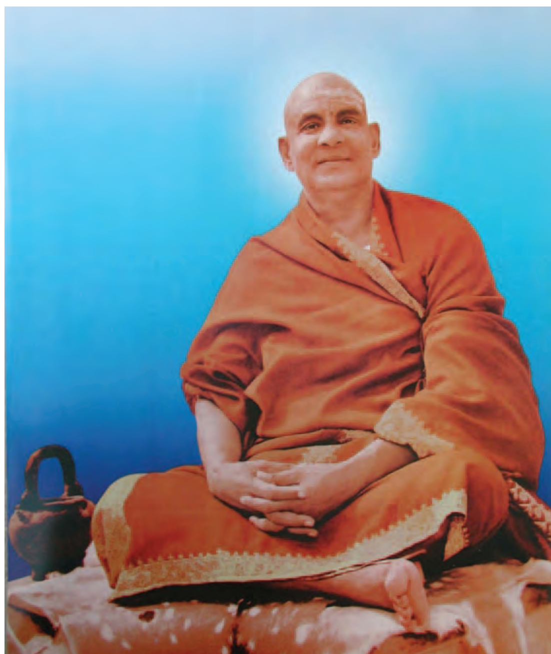
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा प्रथम प्रकाशन 2013

ISBN: 978-93-81620-42-7

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दु:खी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

ईश्वर, प्रकृति और जीव

प्रात:कालीन सत्र, 15 फरवरी 2012

संसार का स्वभाव

शास्त्रों में एक राजा की कहानी आती है, जिसने लंबे समय तक राज्य किया। उसने राजा के सभी कर्त्तव्य निभाये, अपनी प्रजा का पालन किया, युद्ध में भी गया, हारा और जीता। अपने राज्य में खुशी, समृद्धि, शांति लाने के लिए उसने हर प्रकार का प्रयत्न किया। फिर भी वह हमेशा अनुभव करता रहा कि उसकी प्रजा अशांत और दु:खी है। उसने स्वयं को भी हमेशा अशांत और दु:खी अनुभव किया। राजदरबार में सभी लोग परेशान, दु:खी और अशांत नजर आते थे। उसकी समझ में नहीं आया कि सुख-समृद्धि के रहते हुए भी लोगों में अशांति और दु:ख क्यों है, लोगों का चित्त चंचल क्यों है। अपने प्रश्न के समाधान के लिए वह अनेक साधु-महात्माओं को बुलाता था, लेकिन उसके प्रश्नों का समाधान कोई नहीं कर सका। समय बीता और राजा ने युवराज को राज्य सौंपकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया। जंगल में कुटिया बना कर वह जप, ध्यान, पूजा आदि करने लगा और खाली समय में संसार के स्वभाव के बारे में चिन्तन।

एक दिन जब वह अपनी कुटिया के बाहर बैठा हुआ था, एक बूढ़ा आदमी उसके सामने आया और उसे नमस्कार किया। राजा ने भी खड़े होकर उसका अभिवादन किया और दोनों ने एक-दूसरे का हाल-चाल पूछा। बूढ़े आदमी ने राजा से पूछा, 'आप यहाँ पर क्यों आए हो, यहाँ क्या करते हो?' राजा कहता है कि मैं युवराज को गद्‌दी सौंप कर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। अपना समय जप, अनुष्ठान और साधना में बिताता हूँ, और बाकी समय चिन्तन करता हूँ कि संसार में दु:ख, अशांति, चंचलता क्यों है।

बूढ़ा कहता है, 'राजन्! यह चिन्तन तो आप कभी भी कर सकते हैं। अभी हमारे साथ थोड़ा जंगल में घूमने चलिये।' और राजा उस वृद्ध व्यक्ति के साथ जंगल में घूमने निकल पड़ता है। घूमते-घूमते जब धूप तेज हो जाती है और शरीर से पसीना छूटने लगता है, तब राजा को थका देख वृद्ध कहता है, 'महाराज, आप इस पेड़ के नीचे विश्राम कर लीजिए।' ऐसा कहकर उसने राजा को एक पेड़ के नीचे बिठा दिया।

राजा देखता है कि उस पेड़ पर एक भी फूल, फल या पत्ता नहीं है। वह पेड़ काँटों से भरा हुआ था। हवा चलने पर पेड़ की डालियाँ आपस में टकराकर अपने काँटों को नीचे गिराती थीं। जब राजा उस पेड़ के नीचे जाकर बैठा, तब हवा के साथ उसके शरीर पर पेड़ के काँटे गिरकर चुभने लगे। राजा बड़े असमंजस में पड़ गया और सोचने लगा, 'लगता है कि बूढ़े का दिमाग सरक गया है। इस जंगल में इतने सारे पेड़ हैं जो पत्तों, फूलों और फलों से लदे हुए हैं, लेकिन इसे आराम करने के लिये काँटेदार पेड़ ही दिखा!'

राजा कुछ देर तो बैठा रहा, लेकिन जब काँटों की चुभन सहन नहीं हुई, तब वह उठकर चलने लगा। उसे उठते देखकर वृद्ध कहता है, 'क्या हुआ? बैठे रहिये!' राजा कहता है, 'कहाँ बैठूँ? इस पेड़ के नीचे बैठता हूँ तो काँटे शरीर पर गिरकर चुभते हैं।'

वृद्ध कहता है, 'राजन्! जो प्रश्न आपके मन में इतने वर्षों से घूम रहा है, उसी का मैं उत्तर दे रहा हूँ। निश्चित रूप से इस जंगल में बहुत-से छायादार पेड़ हैं, लेकिन मैंने एक बात समझाने के लिए आपको इस पेड़ के नीचे बिठाया है।'

'यह जो काँटों वाला पेड़ है, इसका नाम है संसार। जब भी कोई व्यक्ति इस पेड़ के नीचे आश्रय लेता है, तो पेड़ के काँटे गिरकर उसको चुभते हैं। इसी कारण व्यक्ति को दु:ख होता है और वह चंचल हो उठता है। संसार का भी यही स्वभाव है।'

अमरकोश में *'संसरति इति संसार:'* कहा गया है अर्थात् जहाँ पर हम सरकते हैं, रेंगते हैं, वह संसार है। इस संसार में निश्चित रूप से सुख और दु:ख, शांति और अशांति, दोनों का समावेश होता है। जब प्राणी इस संसार में जन्म लेता है, तब वह सुख और दु:ख, शांति और अशांति के स्वभाव को अपना लेता है और वही स्वभाव जीवनभर उसके साथ रहता है।

वृद्ध आगे कहता है, 'देखिये महाराज, जीव अपने आप में एक स्वतंत्र प्राणी है। हर जीव में आत्मा का वास है और आत्मा परमात्मा का अंश है। जब वह आत्मा इस संसार में एक रूप को धारण करती है, तब वह जीवात्मा कहलाती है। जीवात्मा के रूप में वह संसार के भोगों का भोग करती है। संसार के भोग में सुख भी छिपा है, और दुःख भी। उस भोग में शांति भी है और अशांति भी।'

'इस संसार में आकर मनुष्य संसार के भोगों, घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान से अपना एक सम्बन्ध जोड़ लेता है। इसलिए वह भोगों के प्रभावों से मुक्त नहीं हो पाता। भोगों में लिप्त होकर मनुष्य अपने आप को भूल जाता है। भोग मनुष्य के मूल अस्तित्व, मूल स्वरूप को भुला देते हैं। जब मनुष्य अपने अस्तित्व को भूल जाता है, तब वह अपने आप को केवल कर्ता और भोक्ता के रूप में ही देखता है। लेकिन जब वह अपने अस्तित्व को नहीं भूलता और समझदारी के साथ संसार में रहता है, तब उस व्यक्ति को कहते हैं – द्रष्टा।'

'इस प्रकार इस संसार में व्यक्ति के दो रूप दिखलाई देते हैं। पहला, जो भोग में लिप्त है और दूसरा, जो भोग का साक्षी है। जो भोग में लिप्त है, वह कर्ता और भोक्ता कहलाता है। जो भोग का साक्षी है, वह द्रष्टा कहलाता है। देखा जाए तो भोग माया की अभिव्यक्ति है। माया का प्रभाव है या नहीं है, इसका पता कैसे चलेगा? मनुष्य भोग से अपने आप को मुक्त करता है या उसमें लिप्त होता है, इसी बात से। भोग ही माया की अभिव्यक्ति है और यह माया मनुष्य के मन को भ्रमित कर देती है। जब मनुष्य का मन भ्रमित हो जाता है तब वह अपना वास्तविक स्वरूप भूलकर अपने को दूसरे रूप में देखने लगता है।'

मुक्ति का उपाय

इस प्रकार वृद्ध ने राजा को संसार के स्वभाव से अवगत कराया। तब राजा उस वृद्ध से पूछता है, 'जो मनुष्य इस संसार में आता है और माया के अधीन होकर भोगों में लिप्त हो जाता है, उसकी मुक्ति का क्या कोई उपाय नहीं?'

वृद्ध कहता है, 'मुक्ति का उपाय तो निश्चित रूप से है। समय-समय पर ईश्वर स्वयं अवतार लेकर मनुष्य की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। समय-समय पर संत-महात्मा धरती पर अवतरित होकर समाज को एक नई प्रेरणा और दिशा देते हैं।'



राजा उस वृद्ध से कहता है, 'मैं एक ऐसे असमंजस में था, जिसका समाधान मुझे नहीं मिल रहा था। आप आये हो और मुझे संसार के बारे में बतला रहे हो। मैं तो यही मानूँगा कि आप ही मेरे गुरु हैं। आप मुझे जीवन के बारे में बतलाइये। जीवन में मेरा क्या कर्त्तव्य है, मुझे क्या करना है?'

वृद्ध कहता है, 'देखो राजन्! पहले तो तुम जान लो कि मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर–ये तीनों अलग नहीं, एक हैं। ईश्वर से प्रकृति उत्पन्न होती है और हम सभी जीव प्रकृति के अंतर्गत आते हैं। इसलिए जीव, प्रकृति और ईश्वर, इन तीनों को एक ही सत्ता की अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ जानो। अनन्त, अद्वितीय, निर्गुण, अचिंत्य सत्ता को ईश्वर कहते हैं। वह असीम, अनन्त, अचिंत्य सत्ता जब लीला के रूप में अपने आप को प्रकट करती है, तब उसका रूप प्रकृति का होता है।'

'ईश्वर अपने आप को अनेक रूपों में अभिव्यक्त करने के लिए प्रकृति का सहयोग लेते हैं, क्योंकि प्रकृति के द्वारा ही कर्म सम्पन्न हो पाते हैं। जीव प्रकृति के अधीन रहता है। जीव के जीवन का धर्म कर्म करना होता है। जब जीव प्रकृति के अधीन कर्मों को करता है, तब कर्म या तो उसे बन्धन की ओर ले जाते हैं या फिर मुक्ति की ओर। बन्धन की ओर कर्म कब ले जाएँगे? जब कर्म के प्रति अपेक्षा है, फल की आशा है। जब कर्म केवल धर्म, केवल कर्त्तव्य के रूप में सम्पादित होता है, उसमें फल की आशा नहीं रहती, तब कर्म मनुष्य को बन्धन से मुक्त करता है। इस प्रकार जब हम कर्म को धर्म रूप में करते हैं, तब वहाँ पर मुक्ति है और जब अपने सुख के लिये करते हैं, तब वहाँ पर बन्धन है।'

'जीव इस संसार में आकर संसार से अपना सम्बन्ध जोड़ता है। जीव का दूसरे जीवों के साथ, संसार के साथ सम्बन्ध, उसकी मानसिकता और व्यवहार, ये सब माया के प्रभाव को दर्शाते हैं। जीव भोग-विषयों के पीछे भागता है। फल की प्राप्ति के लिये ही कर्म होता है। जब व्यक्ति के सभी प्रयास

कर्म भोग एवं फल प्राप्ति के लिये हैं, तब निश्चित रूप से वासना, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा अधिक प्रबल होती है और उसी में ही व्यक्ति लिप्त हो जाता है। मोह और ममता के कारण वह मूढ़ता के अधीन हो जाता है।'

'मोह मन की भ्रामक अवस्था है और यह भ्रम जीवन से सम्बन्धित है। लोग कहते हैं कि मुझे अपनी संतान, अपने घर-परिवार, अपने से मोह है। इसका मतलब यह कि आदमी खुद को ही सब कुछ मानता है, अपने सुख, अपने कर्म को ही प्राथमिकता देता है। इसी को मोह कहते हैं। संसार के विषय व्यक्ति के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर मोहग्रस्त कर देते हैं।'

'जब मन में कोई इच्छा या वासना प्रकट होती है, तब उसके साथ मोह भी प्रकट होता है। जब किसी के साथ एक सम्बन्ध स्थापित होता है, तब मोह भी स्थापित होता है। व्यक्ति दूसरों को अपना मित्र या शत्रु मानने लगता है। ऐसा मोह कर्मों के कारण होता है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा काम करे जिससे मुझे फायदा हो, तो मैं उसको अपना मित्र मानता हूँ। और अगर कोई ऐसा काम करे जिससे मुझे हानि हो, तो मैं उसे अपना शत्रु मानता हूँ। कर्मों के अवलोकन से यह निर्णय लिया जाता है कि कौन मित्र है और कौन शत्रु। कर्म ही इस संसार की प्रवृत्ति है। अगर संसार से तुम कर्म को हटा दो तो संसार, संसार नहीं रहेगा और अगर स्वर्ग में तुम कर्म को ला दो, तो स्वर्ग संसार हो जाएगा।'

बूढ़ा व्यक्ति राजा को आगे बतलाता है, 'देखो, परमात्मा अपने आप में असीम और अनंत है। वह सत्य, चेतनता और आनन्द का स्रोत है। इसके विपरीत प्रकृति असत्य है। उसमें चेतनता नहीं, मूढ़ता है। आनंद नहीं, दुःख है।' राजा पूछता है, 'यह कैसे?' बूढ़ा कहता है, 'सरल-सी बात है। तुम्हारे सामने आईना है, जिसमें तुम अपना प्रतिबिम्ब देख रहे हो। लेकिन जो दिखलाई दे रहा है, वह केवल प्रतिबिम्ब है। वह तुम नहीं हो। तुम तो उससे अलग खड़े हो और अपने प्रतिबिम्ब को देखकर कहते हो कि वह मैं हूँ। लेकिन तुम्हें केवल आभास होता है कि वह मैं हूँ। तुम्हें ज्ञान है कि मैं आईने के सामने खड़ा हूँ, मैं अपना चेहरा देख रहा हूँ। पर वास्तव में आईने में जो प्रतिबिम्ब है, वह तुम नहीं हो, तुम्हारा शरीर नहीं है। वह केवल एक चित्र है, और कुछ नहीं। उसी प्रकार से ईश्वर एक स्वतंत्र सत्ता है और प्रकृति एक आईना है। जब प्रकृति के सामने ईश्वर आएगा तो ईश्वर का प्रतिबिम्ब उस आईने में दिखलाई देगा, और जब जीव आएगा तो उस जीव की छवि आईने में दिखलाई देगी।'

'जो ईश्वर अनादि, अनंत, अचिन्त्य और सर्वगुण-सम्पन्न है, जिसमें सत्य, चेतनता और आनंद है, उसी परमतत्त्व का एक अंश तुम्हारे भीतर भी है। जब तुम अपने इस ईश्वरीय अंश को भूलकर सांसारिक जीवन को ही सब कुछ मानते हो, तब दिक्कत होती है। दु:ख को तुम यह कहकर स्वीकार लेते हो कि दु:ख तो जीवन का साथी है। संघर्ष को अपना कर्म मानते हो। सबेरे से लेकर रात तक जीने के लिये संघर्ष करते रहते हो। यह सब अपनी जगह ठीक है, लेकिन अगर जीव को एक क्षण के लिये भी स्मरण हो जाए कि मैं यह सांसारिक व्यक्ति नहीं हूँ, बल्कि मुझमें परमात्मा का अंश विद्यमान है, जो आनंद, चैतन्यता और सत्य का अंश है, और उस अंश के साथ मैं अपना सम्बन्ध स्थापित कर लूँ, तो दु:ख से अवश्य मुक्ति मिल जाएगी।'

राजा वृद्ध से पूछता है, 'आप उपाय तो बहुत बता रहे हो, लेकिन क्या कोई विधिवत् उपाय है जिसके द्वारा मैं अपने आप को, प्रकृति, संसार और ईश्वर को समझ सकूँ।'

बूढ़ा कहता है, 'हाँ! उपाय तो है। जीवन में सुख-शांति को प्राप्त करने का जो उपाय है, वह वास्तव में एक अनुष्ठान है, एक कर्म है।'

राजा कहता है, 'मुझे बताइये मैं कैसे कर्म करूँ ताकि मेरे जीवन में भी सुख-शांति-आनंद आए।' बूढ़ा राजा से कहता है कि ईश्वर ने मनुष्य को जो तरीका बताया है, मैं वही तरीका बतलाता हूँ।

श्रीमद् भगवद्गीता

भारतीय संस्कृति में एक ऐसा ग्रंथ है, जिसे हम लोग ईश्वर की साक्षात् वाणी कहते हैं। उस ग्रंथ में भगवान ने स्वयं मनुष्य को मुक्ति का मार्ग बताया है। जिस ग्रंथ की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ, वह है श्रीमद् भगवद्गीता। अगर हम गौर करें तो देखेंगे कि अर्जुन की स्थिति भी उस राजा की तरह ही है।

आप सब महाभारत की कहानी तो जानते हैं, इसलिये मैं यहाँ पर कहानी बतलाने वाला नहीं हूँ। लेकिन मैं अर्जुन की मानसिकता दर्शाना चाहता हूँ। युद्धभूमि में जब अर्जुन अपने स्वजनों को युद्ध के लिये तैयार देखकर शोक-संतप्त हो जाता है, तब वह अवसाद की अवस्था को प्राप्त करता है और कहता है कि यह युद्ध किस लिए! मैं समझ नहीं पाता हूँ कि मैं अपने ही लोगों को मारकर राज्य को हासिल करके किस प्रकार खुश हो जाऊँगा। मेरे जीवन में किस प्रकार सुख आएगा? मेरे सभी सम्बन्धी लड़ने को तैयार



खड़े हैं। वे मारे जाएँगे, हो सकता है मैं भी मारा जाऊँ। क्या मालूम कौन जीतता है? लेकिन इस महासंहार के बाद विजय किस काम की? अगर पाँच गाँव भी मिल जाते, तो हम लोग आराम से रह सकते थे। लेकिन एक इंच धरती भी नहीं मिल रही है और इसी राज्य, इसी धरती के लिये हमें इतना बड़ा महायुद्ध करना पड़ रहा है। इस प्रकार चिन्तन करके अर्जुन शोक संतप्त हो जाता है।

अर्जुन की यह स्थिति एक सामान्य जीव की अवस्था है। अर्जुन कर्ता और भोक्ता है। उसके गुरु श्री कृष्ण हैं। वे कर्ता नहीं, द्रष्टा हैं; भोक्ता नहीं, साक्षी हैं। जब शोक में लिप्त होकर अर्जुन युद्ध करने की इच्छा का त्याग करता है, तब कृष्ण जी सोचते हैं कि अब गड़बड़ होने वाली है। इसलिए नहीं कि वह युद्ध नहीं करेगा। युद्ध हो या न हो, कोई जीते या हारे, क्या फर्क पड़ता है? लेकिन अर्जुन की मानसिकता एक ऐसी मनोवस्था को दर्शा रही है, जहाँ पर जीव अपने ज्ञान को खोकर मूढ़ता को प्राप्त कर लेता है। मूढ़ता में अवसाद को प्राप्त करके किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है।

इस अवसाद का मूल कारण अर्जुन का हर योद्धा के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध था। यह मेरे पितामाह हैं, वे मेरे भाई हैं, यह मेरे मामा हैं, वह मेरे चाचा हैं। अगर युद्ध के लिये अर्जुन के बंधु-बांधवों के बजाय दूसरे कोई राजा आते, तो अर्जुन के मन में विषाद उत्पन्न नहीं होता। अर्जुन के मन में विषाद

इसलिए उत्पन्न हुआ कि उसने अपनों को वहाँ पर देखा। अगर पराये लोगों को देखता तो शोक-संतप्त नहीं होता, बल्कि युद्ध करता। लेकिन अपनों को वहाँ पर देखकर उसे शोक होता है कि सब मारे जाएँगे। अपने सब सम्बन्धों को याद करके वह दु:ख को प्राप्त करता है।

तब श्रीकृष्ण अर्जुन के दु:ख और भ्रांति मिटाने के लिये जो चर्चा करते हैं, वही श्रीमद् भगवद्‌गीता में वर्णित है, जो अर्जुन के मन में धर्म और कर्त्तव्य पर आधारित एक नए चिन्तन को जन्म देती है। यहीं से गीता की शुरूआत भी होती है।

धर्म आधारित कर्म करना गीता का मूल है, उसका निचोड़ है। श्रीकृष्ण बार-बार अर्जुन से कहते हैं कि धर्म आधारित कर्म करते रहो। जब कृष्ण जी कहते हैं, 'धर्म आधारित कर्म को करो', वहाँ पर वे सामान्य कर्म की ओर संकेत नहीं दे रहे हैं। धर्म जिस कर्म को निश्चित करता है, वह कर्म, कर्म नहीं होता, क्योंकि वह बाँधता नहीं है। वह कर्म मुक्ति का माध्यम बनता है। जबकि अधर्म जिस कर्म को निश्चित करता है, वह कर्म बाँधता है। इसलिए कृष्ण जी अर्जुन को बार-बार कहते हैं कि तुम धर्म द्वारा निर्धारित कर्म को करते रहो। उससे तुम बँधोगे नहीं, बल्कि उससे मुक्त हो जाओगे और तुम्हारा मन, चित्त और बुद्धि शांत रहेंगे।

जब हम कर्म में लिप्त होते हैं, तब भोग हमें और भी पदार्थवादी बना देता है। लेकिन जब कर्म को कर्त्तव्य के रूप में अपनाते हैं, तब वह कर्म हमारे जीवन की रचनात्मक प्रतिभा को जाग्रत कर देता है। यही श्रीमद् भगवद्‌गीता का विषय है, जिसे हम लोग आज दोपहर से आरंभ करेंगे और आने वाले तीन दिनों में गीता के अलग-अलग अध्यायों में श्री कृष्ण अर्जुन को अवसाद से ऊपर उठाने के लिए किस प्रकार की साधनाएँ देते हैं, उन्हें जानने का प्रयास करेंगे।

गीता में कई प्रकार की विचारधाराएँ आती हैं। एक विचारधारा दर्शन की है, दूसरी साधना की। दर्शन के बारे में तो भाष्यकारों ने बहुत कुछ लिखा है और भविष्य में भी भाष्यकार दर्शन की व्याख्या करते रहेंगे। लेकिन श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपने मन को सम्भालने के लिये जो साधनात्मक पद्धति बतलाई है, आने वाले दिनों में हम लोग उस पर चर्चा करेंगे। और उस पद्धति का नाम है – *श्रीकृष्ण योग पद्धति*।

नित्य और अनित्य तत्त्व

अपराह्नकालीन सत्र, 15 फरवरी 2012

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामका पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥1.1॥

गीता महाराज धृतराष्ट्र के इस प्रश्न से आरम्भ होती है। धृतराष्ट्र अपने सारथी संजय से पूछते हैं कि धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? संजय युद्धभूमि का वर्णन आरम्भ करते हैं। वे कहते हैं कि दोनों सेनाएँ आमने-सामने हैं। एक सेना के सेनापति भीष्म हैं और उनके अधीन कौरव-पक्ष के सभी राजा और उनकी सेनाएँ हैं। दूसरे पक्ष के सेनापति भीम हैं और उनको सहयोग करने वाले पाण्डव-पक्ष के राजा हैं।

इस बीच अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि आप मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा कर दीजिए, ताकि मैं दोनों पक्षों को भलि-भाँति देख सकूँ। जब श्रीकृष्ण अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा करते हैं, तब वहाँ पर अर्जुन किसको देखता है?

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥1.26॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥1.27॥

जब दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन का रथ खड़ा होता है, तब वह सब ओर देखता है। वह दोनों सेनाओं में अपने चाचा-मामा, दादा-परदादा, गुरुजन, भाई-बन्धु, पुत्र-पौत्र, मित्र, श्वसुर और सुहृद् को देखता है।



अर्जुन का विषाद

उन लोगों को वहाँ देखकर अर्जुन को अचानक सदमा पहुँचता है कि मेरे ही स्वजन सामने खड़े हैं और मुझे इन्हीं के साथ युद्ध करना है? इस विचार से वह शोकग्रस्त हो जाता है। उसके शरीर से पसीना छूटने लगता है और हाथों से आयुध गिर जाते हैं। वह श्रीकृष्ण से कहता है –

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगा: सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥1.33॥

'जिनके लिए हमें राज्य, भोग और सुख अभीष्ट हैं, वे ही सब धन और जीवन की आशा को त्याग कर, युद्ध के लिए तैयार खड़े हैं!' फिर अर्जुन कृष्ण जी से एक प्रश्न करता है –

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिन: स्याम माधव ॥1.37॥

अर्जुन कहता है कि हम धृतराष्ट्र के पुत्रों, अपने बांधवों को मारने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने ही कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी हो पाएँगे? वह आगे कहता है –

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता: ॥1.45॥

‘हम लोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने को तैयार हैं। राज्य और सुख के लोभ से स्वजनों को मारने के लिए हम तैयार हो गये हैं। क्या इन्हें मारकर हम कभी सुख प्राप्त करेंगे?’ आगे फिर वह कहता है कि मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि मैं क्या करुँ? मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। आप ही मुझे सही मार्ग, सही दिशा बतलाइये कि मुझे क्या करना चाहिए?

गीता के पहले अध्याय में अर्जुन के इसी विषाद को समझाया गया है। मनुष्य के जीवन में विषाद कब होता है? जब मनुष्य अपनी वासनाओं के अधीन रहकर अपने कर्त्तव्यों को भूल जाता है और अपनी इच्छापूर्ति के लिए न्याय और धर्म का त्याग करके कर्म करता है।

स्वार्थ का संसार

संसार में जब व्यक्ति का जन्म होता है, तब माया उस व्यक्ति की मालिक हो जाती है। ईश्वर मालिक नहीं होता। माया सर्वशक्तिमान् है और वह हर व्यक्ति को कठपुतली की भाँति नचाती है। माया के अधीन अपनी जीवनचर्या व्यतीत करते हुए जीव ईश्वर भक्ति का प्रयास करते हैं।

जब आत्मा एक शरीर को धारण करती है, तब शरीरस्थ आत्मा को हम लोग कहते हैं जीव। यही शरीरस्थ आत्मा अर्थात् जीव, संसार में जन्म लेता है, पढ़ाई करता है, काम करता है, पैसा कमाता है, परिवार की वृद्धि करता है, नाम और यश कमाता है और अंत में *हरि ॐ तत्सत्* हो जाता है।

जब तक जीव जीवन के इस क्रम में कर्म करता है, तब तक उसके कर्म स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित होते हैं। स्वार्थ-वृत्ति से प्रेरित कर्म का मतलब हुआ, अपने हित, अपने सुख, अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए किया गया कर्म। हम स्वयं अपने कर्मों के केंद्र बन जाते हैं। यह बात याद रखना कि इच्छा हमेशा सकाम होती है। निष्काम इच्छा को जबरदस्ती लाने का प्रयास किया जाता है, लेकिन इच्छा का स्वाभाविक रूप हमेशा सकाम होता है। इस प्रकार इस संसार में आने के पश्चात् सब मनुष्यों के कर्म, आचरण, व्यवहार – सब स्वार्थ-पूर्ति से प्रेरित होते हैं। चाहे वह आपका जीवन हो या संतों का, चाहे पाण्डवों का हो या कौरवों का, क्योंकि स्वार्थ से कोई मुक्त नहीं है। अगर एक साधु को भी रोटी की इच्छा होती है, तो वह अपने लिए इच्छा कर रहा है। वहाँ पर भी स्वार्थ आ जाता है।

इस स्वार्थ के अनेक रूप होते हैं। स्वार्थ का एक रूप अपने शरीर का पालन-पोषण करना होता है। स्वार्थ का दूसरा रूप अपनी प्रतिष्ठा और मान-

मर्यादा को बढ़ाने का प्रयास होता है। तीसरा रूप घर-परिवार-सम्पत्ति की वृद्धि होता है, ताकि वंश परम्परा कायम रह सके। स्वार्थ का चौथा रूप जीवन में सुख की खोज करना होता है। इस प्रकार हमारे शास्त्रो में स्वार्थ के अलग-अलग रूपों को समझाया गया है।

स्वार्थ की उत्पत्ति कब होती है? जब व्यक्ति किसी विषय के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। अगर व्यक्ति का विषय के साथ सम्बन्ध न हो, तो इच्छा उत्पन्न नहीं होगी, स्वार्थ-वृत्ति जन्म नहीं लेगी। लेकिन अगर एक इच्छा है और उस इच्छा की पूर्ति के लिए हम प्रयास कर रहे हैं, तो इच्छा के साथ स्वार्थ भी साथ चलता है। स्वार्थ का विकास कब होता है? सम्बन्धों के कारण। जब हम इस संसार में आते हैं, तब हमारे साथ मन और इंद्रियाँ भी आते हैं। ये दोनों मिलकर आत्मा की अभिव्यक्ति का कारण बनते हैं।

आगे चलकर श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि मेरा ही अविनाशी अंश पृथ्वी पर इन्द्रियों और मन के साथ अवतरित होता है। इन्द्रियाँ तथा मन इस जीव को संसार में बाँधते हैं। जब इंद्रिय और मन जीव को संसार में बाँधते हैं, तब जीव स्वतंत्र नहीं रहता। वह संसार के विषयो में ही लिप्त हो जाता है। अगर इंद्रिय और मन जीव को नहीं बाँधें तो निश्चित रूप से उसे प्रेरणा होती है कि मैं ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करूँ, ईश्वर का दर्शन करूँ, ईश्वर से मेरा सम्बन्ध जुड़े। लेकिन ऐसा नहीं होता है। हम लोग ईश्वर का चिन्तन जरूर करते हैं, लेकिन उसे जीवन की प्राथमिकता नहीं समझते। हमारी प्राथमिकता संसार में सुखपूर्वक, शांतिपूर्वक और समृद्धिपूर्वक जीने की हो जाती है। इसलिए जीवन का व्यवहार हमें ईश्वर की ओर नहीं ले जाता, बल्कि हमें संसार में और अधिक प्रवेश दिलाता है।

जैसे-जैसे हम संसार में प्रवेश करते हैं, वैसे-वैसे हमारी बुद्धि, मन और इंद्रियाँ विषयाकार हो जाते हैं। जब मन विषयों का रूप ग्रहण कर लेता है, तब फिर उस मन में सुख-शांति कहाँ? बल्कि उस मन में चंचलता, अशांति, संघर्ष और उनकी परिणति दु:ख के रूप में दिखलाई देती है और यह हर व्यक्ति के जीवन की कहानी है।

आसक्ति से अशांति

इस संसार में आकर हम जो सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसमें एक सीमा निश्चित कर लेते हैं कि यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, यह मेरा पति है, यह मेरी पत्नी

है, ये मेरे बच्चे हैं, ये मेरे सास-ससुर हैं, ये मेरे चाचा-मामा हैं, ये मेरे मित्र हैं। इस प्रकार हम इस प्रकृति में जन्म लेकर पुनः अपने चारों तरफ एक समाज का निर्माण करते हैं जिसके साथ हमारा एक भावनात्मक सम्बन्ध हो जाता है। यही भावनात्मक सम्बन्ध आसक्ति का कारण बनता है। आसक्ति का कारण बुद्धि नहीं, भावना है। बुद्धि तो आप इधर-से-उधर कर सकते हो, लेकिन भावनाओं को इधर-से-उधर करना मुश्किल हो जाता है। अगर एक बार भावना किसी के साथ जुड़ जाती है, तो फिर भावना उसी आकार को ग्रहण कर लेती है। इस तरह हमारी भावना ही समाज और संसार से आसक्ति का कारण बनती है।

अर्जुन के साथ भी यही घटना घटी। वह अपने ही स्वजनों को सामने देखता है, जिनको देखकर वह शोकग्रस्त होता है। अगर अर्जुन के सामने कोई दूसरा राजा युद्ध करने के लिए आता, तो अर्जुन शोकग्रस्त नहीं होता, क्योंकि दूसरा राजा पराया है। लेकिन जब अपनों को सामने देखता है, तब शोक होता है। यहीं से गीता की शिक्षा आरम्भ होती है।

जब हम मोह, ममता और अपनत्व के कारण अपनी मति की स्पष्टता खो देते हैं, और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित क्या है, यह भूल जाते हैं, तब उस समय अशांति छा जाती है और अर्जुन की यही हालत है। जब वह देखता है कि युद्ध के लिए मेरे ही लोग सामने खड़े हैं, तब वह प्रश्न करता है कि इनको मारकर हम कैसे सुखी होंगे। यहाँ अर्जुन एक और विशेष बात कहता है। हमसब लोग बुद्धिमान् हैं। बुद्धिमान् का मतलब न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म के बारे में जानने वाले। लेकिन बुद्धिमान हो करके भी हम महान् पाप करने को तैयार हो गए हैं। महान् पाप क्या है? एक-दूसरे को मारना। हमारे शास्त्रो में हत्या, प्राणों को हर लेना, सबसे बड़ा पाप माना गया है। थप्पड़ मारना कोई बड़ी चीज नहीं है, लेकिन गला काटने का अधिकार किसी को नहीं है और हम लोग वही पाप करने को तैयार हो गए हैं।

अर्जुन कहता है कि बुद्धिमान् हो करके भी हम यह महान् पाप करने को तैयार हैं और इस पाप को करके हम कैसे सुखी बन सकते हैं, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। इस अवस्था में उसके शरीर में कम्पन होने लगता है। उसके शरीर की शक्ति, सामर्थ्य, ऊर्जा, बल, सब समाप्त हो जाता है। उसके अस्त्र-शस्त्र गिर जाते हैं और वह चुपचाप मूढ़ अवस्था में रथ में बैठ जाता है।

अनित्य-नित्य का विवेक

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥2.11॥

अर्जुन की विषादग्रस्त दशा देखकर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! तू शोक न करने योग्य मनुष्यों के लिए शोक करता है और पण्डितों के जैसे वचन कहता है। परन्तु जिनके प्राण चले गए हैं, उनके लिए, और जिनके प्राण नहीं गए हैं, उनके लिए भी पण्डित लोग शोक नहीं करते।

श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को समझा रहे हैं कि तुम शोक आखिर किसलिए कर रहे हो, क्योंकि संसार में जो कुछ भी है, वह अनित्य है, और अनित्य के लिए शोक करना बेवकूफी है। प्रकृति की हर वस्तु की एक समाप्ति तिथि होती है। आप बाजार जाकर कोई दवाई खरीदते हो, तो उसके पीछे लिखा होता है कि इसका उपयोग कब तक कर सकते हैं। जब आप अपने व्यापार में हर वस्तु पर एक लेबल लगा देते हो कि इस तिथि के पश्चात् इसका उपयोग नहीं करना, तब भगवान भी, जिसने इतनी बड़ी सृष्टि का निर्माण किया है, क्या बिना लेबल लगाए हमलोगों को भेज देंगे? भगवान ने भी लेबल लगा दिया है कि तुम इस तारीख के आगे जी नहीं सकते, यह तुम्हारी 'एक्सपायरी डेट' है।

जब संसार में हर वस्तु की समाप्ति तिथि निश्चित है, तो किसके लिए शोक करना? खराब दवाई फेंक दो, दूसरी दवाई ले लो। मृत शरीर के स्थान पर दूसरा शरीर ले लो। बुढ़ापे में न खाना खा सकते हो, न देख सकते हो, न चल सकते हो; तो भी जीना चाहते हो। एक्सपायरी के बावजूद भी अपने आप को जीवित रखना चाहते हो। आदमी अंतिम क्षण तक अपनी एक्सपायरी डेट को बढ़ाना चाहता है। अगर अस्सी साल का है, तो कहेगा, भगवान की कृपा हो जाए तो नब्बे-सौ का हो जाऊँ। आदमी कुछ नहीं कर पाता, बिस्तर में ही पड़ा हुआ है, लेकिन फिर भी जीने की तमन्ना है।

भगवान यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि इस सृष्टि में जिस भी वस्तु का निर्माण हुआ है, चाहे वह जड़ हो या चेतन, सबका एक-न-एक दिन नाश होगा। जिस चीज का नाश होने वाला है, उसके लिए शोक करने से कोई फायदा नहीं। यहाँ पर तुम जिन लोगों को युद्ध के लिये तैयार खड़ा देख रहे हो, उन्होंने एक निश्चित दिन इस संसार में जन्म लिया और एक निश्चित दिन



यहाँ से जाने वाले भी हैं। हो सकता है कि वह दिन आज हो या अस्सी साल के बाद। जो भी हो, अर्जुन, तुम्हें अनित्य के लिए शोक करना शोभा नहीं देता।

संसार में प्राय: यही होता है। हर व्यक्ति अनित्य के लिए शोक करता है। एक बार एक बूढ़े व्यक्ति हमारे पास आए। उन्होंने कहा, 'स्वामीजी बहुत दु:खी हूँ।' हमने पूछा, 'क्या हुआ?' तो उन्होंने कहा, 'मैंने जीवनभर नौकरी की, इस इच्छा के साथ कि अंत में एक मकान बनाऊँगा। मैंने धन-संग्रह करके एक मकान बनाया लेकिन एक महीने के अंदर ही उस मकान में आग लग गई। मेरा सब कुछ नष्ट हो गया है।'

हम चुपचाप उनकी बातों को सुनते रहे। वे केवल अपना दु:ख व्यक्त करना चाह रहे थे। उनकी बातों को सुनकर जो थोड़ा बहुत सांत्वना-सहारा दे सकते थे, वह दिया। उनको समझाया कि आपने मकान ही खोया है, अपना जीवन, पुरुषार्थ या प्रतिभा नहीं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर आप फिर से धन कमाकर मकान बना सकते हैं। लेकिन वे साठ साल के बुजुर्ग हमारे इस विचार को ग्रहण नहीं कर पा रहे थे। बातचीत समाप्त हो गई।

हम दोनों टहलते हुए गेट से बाहर निकले। गेट के बाहर कुछ बच्चे खेल रहे थे। एक बच्चे के हाथ में प्लास्टिक की गाड़ी थी। दूसरे बच्चे ने उसको जमीन पर पटककर तोड़ दिया। पहला बच्चा प्लास्टिक की गाड़ी हाथ में रखकर रोने लगा कि मेरी गाड़ी टूट गई। हमारे साथ जो व्यक्ति थे, वे उस

बच्चे के पास जाकर कहते हैं कि बेटा रोओ मत, तुम्हारे लिए दूसरी गाड़ी खरीद लेंगे। उसी समय हमने उनसे कहा, 'आप एक बच्चे को तो सलाह दे रहे हैं कि रोओ मत, दूसरी गाड़ी खरीद लेंगे। वही सलाह आप स्वयं को क्यों नहीं देते कि रोओ मत, दूसरा मकान खड़ा कर लेंगे।'

वे हमें नमस्कार करके चले गए। डेढ़ साल के बाद वे वापस आकर हमसे कहते हैं, 'स्वामीजी! मुझे उस दिन जो शिक्षा मिली थी, उससे मैं पुनः अपने आवास का निर्माण कर पाया हूँ।' हमने उनसे कहा, 'वह शिक्षा हमने नहीं, बल्कि वह आपने स्वयं को दी थी। जब आपने उस बच्चे को कहा कि रोओ मत, टूटी गाड़ी फेंक दो, दूसरी ले लो, और आपने वही सिद्धांत जब अपने ऊपर लागू किया, तब डेढ़ साल के बाद आप दुबारा अपना घर बनाकर यहाँ आ सके हो।'

नित्य आत्मा, अनित्य शरीर

श्रीकृष्ण बार-बार अर्जुन से कहते हैं कि तुम अपने कर्त्तव्य पर ध्यान दो। तुम एक योद्धा हो, अपने कर्त्तव्य को मत भूलो। अनित्य के लिए शोक मत करो, नित्य को जानने का प्रयास करो। नित्य किसको कहते हैं? गीता के दूसरे अध्याय में कहा गया है –

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥2.20॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस संसार में अगर कुछ नित्य है, तो वह है आत्मा। शरीर, घर-परिवार, समाज, सम्बन्ध – सब अनित्य हैं, लेकिन आत्मा नित्य है, सनातन है। व्यक्ति बाल्यावस्था से युवावस्था को, युवावस्था से वृद्धावस्था को, और वृद्धावस्था से मृत्यु को प्राप्त करता है। लेकिन आत्मा में कभी परिवर्तन नहीं होता। शरीर, समाज और संसार में परिर्वतन होता है, लेकिन जो तत्व हमेशा तुम्हारे साथ है, और जिसे इस संसार में तुम बार-बार लेकर आ-जा सकते हो, वह नित्य तत्त्व आत्मा है। यह आत्मा न तो कभी जन्मती है और न ही कभी मरती है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी इसका नाश नहीं होता। अगर तुम अपना सम्बन्ध इस आत्मा से जोड़ लोगे तो शोक नहीं होगा।

जब तुम अपनी चेतना को शरीर और संसार में केन्द्रित कर देते हो, तब शोक होता है। लेकिन जब तुम अपनी मन-बुद्धि को आत्मा के साथ जोड़ते

हो, तब शोक, दु:ख और विषाद से मुक्त रहते हो। इसलिए अपनी आत्मा को जानने का प्रयास करो और संसार में रहते हुए, जो भी तुम्हारे धर्म-न्याय आधारित कर्त्तव्य हैं, उन्हें करते जाओ। आत्मा को सनातन मानो और शरीर को अनित्य। तुमने अपने शरीर, घर-परिवार, धन-व्यवसाय आदि के प्रति जो अपनत्व की भावना जोड़ रखी है, वही भावना तुम्हारी बुद्धि को भ्रमित करती है। लेकिन ईश्वर की सजगता, परमात्मा की सजगता बुद्धि को स्थिर करती है। जीवन का यह लक्ष्य होना चाहिए कि अपने मन को ईश्वर के साथ जोड़ दो और संसार में रहकर कर्मों को कर्त्तव्य रूप में करते जाओ।

कर्त्तव्य-कर्म

जहाँ तक कर्म की बात है, यह सृष्टि कर्म-आधारित है। इस सृष्टि में कर्म के बिना कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता। एक त्यागी भी कर्म करता है, एक साधु भी कर्म करता है। उनका शरीर, उनका मन, उनकी भावना कर्म करते हैं। लेकिन अंतर इतना ही है कि एक त्यागी, ज्ञानी या साधु के कर्म सत्त्वगुण से प्रेरित होते हैं जबकि सांसारिक व्यक्तियों के कर्म तमोगुण और रजोगुण से प्रेरित होते हैं। रजोगुण और तमोगुण से प्रेरित कर्म मनुष्य को बंधन में डालते हैं। मनुष्य कर्म के फल की आशा रखता है। लेकिन सत्त्वगुण से युक्त हर कर्म कर्त्तव्य एवं धर्म के रूप में सम्पन्न होता है। वह स्वार्थ द्वारा प्रेरित नहीं होता, और इसलिए वह कर्म मुक्ति का कारण बनता है। श्रीकृष्ण अर्जुन से आगे कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥2.47॥
योगस्थ: कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥2.48॥

हे अर्जुन, तुम इस संसार में आए हो, अत: कर्म करो, नपुंसकता को प्राप्त मत करो। अपने मन को परमात्मा में लगाओ और न्याय-संगत, धर्म-संगत कर्म करते जाओ। तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिए कर्मों के फल का हेतु मत बनो, साथ ही अकर्मण्यता से भी दूर रहो। आसक्ति का त्याग कर, सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि रखकर, योग में स्थित होकर कर्त्तव्य कर्मों को करो। इसी अवस्था को समत्व कहते हैं।

जो कुछ भी कर्म किया जाए, उसके फल में समभाव धारण करने का नाम समत्व है। इस बात पर विशेष ध्यान देना क्योंकि जीवन का असली सूत्र यहीं पर है। तुम्हारे द्वारा अच्छा या बुरा जो भी कर्म किया जाए, उसके पूरे होने या न होने में, और उसके फल में अगर समभाव रहे तो वह समत्व की अवस्था है। कर्म चाहे पूरा हो या न हो, चाहे उसका फल मिले या न मिले, एक शांत मन से निर्देशित कर्म को करते जाओ। यह समत्व की अवस्था है। जब तुम कर्म में फल की आशा रखते हो, तब फिर वहाँ पर समत्व की भावना नहीं रहती। फल नहीं मिलने पर दु:ख, और फल मिलने पर प्रसन्नता होती है। तुम्हारा मन कभी हर्ष की ओर, तो कभी विषाद की ओर जाता है।

इसलिए अपने आप को ईश्वर से जोड़ दो, धर्म-निर्देशित-कर्म को कर्त्तव्य के रूप में करो। उस कर्त्तव्य-कर्म से कुछ अपेक्षा मत रखो। इस प्रकार जब तुम फल की आशा त्याग कर कर्म को भली-भाँति करोगे, तब तुम्हारी बुद्धि स्थिर हो जाएगी। श्रीकृष्ण अर्जुन से आगे कहते हैं–

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥2.53॥

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि, जब परमात्मा में अचल और स्थिर रूप से ठहर जाएगी, तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा। योग को प्राप्त होने का मतलब, परमात्मा के साथ तेरा नित्य संयोग हो जाएगा।

व्यक्ति अक्सर स्वतंत्र निर्णय लेकर नहीं, बल्कि दूसरों के विचारों से प्रेरित होकर कर्म करता है। जब कर्म करता है, तब दूसरों के अनुमोदन की अपेक्षा भी रखता है। अगर अन्य व्यक्ति उसके अच्छे कर्म का अनुमोदन या प्रशंसा न करे, तो वह दु:खी हो जाता है। अगर कोई व्यक्ति कुछ दूसरी बात कह दे, तो व्यक्ति अपने कर्म को बदलने के लिए भी तैयार हो जाता है।

एक बार एक बूढ़ा आदमी अपने जवान बेटे और घोड़े के साथ घर से बाजार की ओर निकला। बूढ़ा और जवान दोनों पैदल चल रहे थे, घोड़े पर कोई सवार नहीं था। जब थोड़ी दूर गए तो किसी ने कहा, 'देखो कैसे लोग हैं, दोनों पैदल चल रहे हैं, जबकि घोड़ा खाली चल रहा है। अरे! कोई तो घोड़े पर चढ़ जाए।' बूढ़े ने अपने बेटे से कहा, 'तुम जवान हो, तुम्हारे पैर कोमल हैं, तुम ही चढ़ जाओ। बाजार तक यात्रा सुखद हो जाएगी।' यह सुनकर लड़का घोड़े पर चढ़ गया।

कुछ दूर गए तो किसी दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'कैसा बेटा है यह? जवान होकर भी घोड़े पर मस्ती से सवार है, जबकि उसका बूढ़ा बाप पैदल चल रहा है।' यह बात सुनकर लड़के ने कहा, 'पिताजी! मैं उतरता हूँ, आप घोड़े पर चढ़ जाइए।' पिताजी घोड़े पर चढ़ गए और लड़का घोड़े की लगाम पकड़कर आगे-आगे चलने लगा। कुछ आगे गए तो किसी ने कुछ और कह दिया, और इन दोनों ने उसकी बात भी मान ली।

हम हमेशा दूसरो की बातों को सुनकर उनके अनुसार चलने का प्रयास करते हैं। अपना स्वतंत्र निर्णय कभी नहीं ले पाते। जब दूसरो के विचार हमें प्रेरित करते हैं, तब हमारा अपने आचरण और व्यवहार पर नियंत्रण नहीं रहता। दूसरे को खुश करने के लिए ही हम आचरण करते हैं। कोई व्यक्ति कुछ सुझाव देता है, हम उसको मान लेते हैं। दूसरा व्यक्ति आकर कुछ दूसरा सुझाव देता है, हम उसको भी मान लेते हैं। जब अनेकों का सुझाव आता है, तब बुद्धि विचलित हो जाती है, जिससे कर्म भी विचलित हो जाते हैं।

इसीलिए यहाँ पर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जब अलग-अलग सुझावों और वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जाएगी, तब तू योग को प्राप्त होगा। व्यक्ति, परिस्थिति और परिवेश हमारे मन को प्रभावित कर देते हैं। मन चंचल और विचलित हो उठता है। उस चंचल, विचलित अवस्था में आंतरिक स्थिरता और स्पष्टता का अभाव रहता है। इस आंतरिक स्पष्टता के अभाव को दूर करने के लिए अपनी बुद्धि को स्थिर बनाना आवश्यक हो जाता है।



अनासक्त बुद्धि

प्रातःकालीन सत्र, 16 फरवरी 2012

लोग गीता का अध्ययन करते हैं और कहते हैं कि यह एक धर्म शास्त्र है, एक दर्शन शास्त्र है। लेकिन वास्तव में गीता न तो धर्म शास्त्र है, न ही दर्शन। अगर हम से पूछा जाए तो हम कहेंगे कि यह जीवन का शास्त्र है। जीवन की घटनाओं से गुजरकर मन स्वाभाविक रूप से निराशा, शोक, विषाद और अवसाद को प्राप्त करता है। इस मानसिक अवस्था को किस प्रकार सुव्यवस्थित कर सकते हैं, किस प्रकार अपनी प्रतिभा को जाग्रत कर जीवन में आगे बढ़ सकते हैं, यही गीता का एक संदेश है।

जब अर्जुन युद्धभूमि में अपने बन्धु-बान्धवों को देखकर विषादग्रस्त हो जाता है, तब श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हारी आसक्ति और सम्बन्ध के कारण ही तुम्हें शोक हो रहा है। इस संसार में जब प्राणी का जन्म होता है, तब आत्मा इस शरीर में प्रवेश करती है और उसका योग इन्द्रियों एवं मन के साथ होता है। मन एवं इन्द्रियाँ, संसार में भोग के विषयों से जुड़कर सुख की कामना करते हैं।

मन में जो इच्छाएँ प्रकट होती हैं, उनका सम्बन्ध मुख्य रूप से चार चीजों के साथ रहता है – आहार, निद्रा, भय, और मैथुन। ये मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हीं मूल प्रवृत्तियों को पूरा करने के लिए मन में विचार और इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छा को पूरा करने के लिए जब प्रयास होता है और उस प्रयास से जब कुछ प्राप्ति होती है, तब आसक्ति का जन्म होता है। इस प्रकार इच्छा और आसक्ति मन का स्वभाव है, और विषयों की ओर आकर्षण इन्द्रियों का। जब आँख किसी आकर्षक वस्तु को देखती है, तब उसे प्राप्त करना चाहती है। अगर

हाथ किसी कोमल वस्त्र को छूता है, तो उसे प्राप्त करना चाहता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि यह पूरा जीवन इन्द्रियों और मन का ही खेल है। जब यह मन विषयों और सम्बन्धों में आसक्त हो जाता है, तब शोक का जन्म होता है।

अनित्य वस्तुओं से आसक्ति

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जीवन में अनित्य वस्तु के लिए शोक करने से कोई फायदा नहीं, जबकि नित्य का ख्याल करने से तुम्हें हमेशा सुख मिलेगा। मकान का ख्याल करो क्योंकि वह तुम्हारे साथ जिन्दगी भर चलने वाला है। कुर्सी, मेज, अलमारी, तकिया या रजाई तो अनित्य हैं। हम आज जिस कम्बल, कुर्सी या कपड़े का उपयोग कर रहे हैं, कल उसे फेंककर दूसरा ले लेंगे। फिर भी हम जीवन में अनित्य वस्तुओं से बेमतलब आसक्त हो जाते हैं।

हमें अपने जीवन की एक घटना याद है। एक बार हमें गुरुजी ने एक पेन दिया। हमने उसका खूब उपयोग किया। उसकी स्याही खत्म हो गई, फिर भी उसे सालों तक अपने पास रखा। हम उसे छोड़ना नहीं चाहते थे, क्योंकि मन में यह विचार था कि गुरुजी का दिया हुआ पेन है। हम भूल गए कि इसका भी एक एक्सपायरी पीरियड होता है। एक दिन किसी व्यक्ति ने कहा कि इतने वर्षों से यह पेन इस मेज की दराज में क्यों रखा है। यह तो काम भी नहीं करता। न इसकी निब मिलती है, न ही स्याही। इसको फेंकते क्यों नहीं। हम बिगड़ गए। हमने कहा, 'कैसी बात करते हो? मुझे यह पेन मेरे गुरुजी ने दिया है। भले ही यह काम न करे, पर मैं इसे जरूर रखूँगा।'

बाद में हम सोचने लगे कि वह व्यक्ति तो ठीक कह रहा है। हमने दस साल से उस पेन को मेज की दराज में देखा-छुआ तक नहीं और जिस वस्तु का हमने जीवन में दस सालों तक उपयोग ही नहीं किया, उससे आसक्ति क्यों? अगर ऐसी आसक्ति हर चीज से हो जाए, तो हम लोगों का मकान छोटा पड़ जाएगा। इतनी सारी चीजों को कहाँ-कहाँ रखेंगे? और उस संग्रह का फायदा भी क्या? हमारे चले जाने के बाद किसी दूसरे के लिए उन सब चीजों का कोई महत्त्व नहीं है।

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम्हें तुम्हारी आसक्ति और सम्बन्ध के कारण शोक हो रहा है। आसक्ति मन को भ्रमित और विचलित कर देती है। इसलिए पहला प्रयास होना चाहिए कि तुम अपने मन को स्थिर रखो। इसका एक ही उपाय है। अपने मन को अनित्य से हटाकर नित्य से जोड़ दो। अगर



मानते हो कि यह संसार, यह शरीर अनित्य है और चालीस, पचास या साठ साल के बाद हमको यह शरीर छोड़ना ही पड़ेगा, तो फिर इसको पकड़कर रोते क्यों हो? यह तो ऐसे ही हुआ, जैसे कोई आदमी एक पेड़ को पकड़कर खड़ा हो जाए और चिल्लाने लगे कि पेड़ ने मुझे पकड़ लिया है, मुझे छोड़ नहीं रहा है। तुमने पेड़ को पकड़ा है, पेड़ ने तुम्हें नहीं पकड़ा है। तुम संसार को पकड़े बैठे हो, संसार ने तुमको नहीं पकड़ा है। संसार तुम्हारी परवाह भी नहीं करता। जब तक तुम समाज को कुछ दे सकते हो, समाज परवाह करेगा। सेवानिवृत्ति के बाद एक बड़े अफसर को उसका बैरा भी सलामी नहीं मारता। इस सत्य को हर व्यक्ति जानता है।

इसलिए कृष्ण जी कहते हैं कि अनित्य से अपने मन को हटा दो। जितने प्राणी तुम इस धरती पर युद्ध के लिए तैनात देख रहे हो, ये सब पहले से ही मर चुके हैं। जो लोग पहले से ही मर चुके हैं, उनके लिए शोक करने से क्या फायदा? हमारे कितने ही पूर्वज रहे होंगे, लेकिन क्या हम उन सभी को जानते हैं? हम केवल अपने पिता, अपने दादा, ज्यादा-से-ज्यादा अपने परदादा को जानते हैं। उसके पहले के पूर्वज कौन थे, कैसे थे, कहाँ थे, कोई नहीं जानता।

कृष्ण जी यहाँ पर यही बात समझाते हैं कि जो भी प्राणी इस जगत् में आता है, मान लो कि वह जीवित नहीं, मर चुका है। वह प्राणी न जन्म से पहले यहाँ उपस्थित था, न ही मृत्यु के बाद उपस्थित रहेगा। जन्म और मृत्यु के बीच में ही

वह यहाँ पर दिखलाई देता है और जो केवल बीच में दिखलाई देता है, उसको हमेशा अनित्य मानो। जो परिवर्तनशील है, वह कभी नित्य नहीं हो सकता।

इसलिए तुम्हारा जो भी धर्मसंगत और न्यायसंगत कर्त्तव्य है, उसे आसक्ति-रहित होकर करते रहो। तब फिर वह कर्म तुमको कभी विषाद में नहीं बाँधेगा। लेकिन अगर तुम्हारा कर्म और आचरण धर्मसंगत नहीं है, तो वह कर्म तुमको रात को सोने भी नहीं देगा। अगर कर्म धर्मसंगत हो तो आदमी आराम से बिना किसी परेशानी, तनाव या चिंता के सो सकता है। इसलिए कर्म को हमेशा धर्मसंगत और न्यायसंगत बनाने का प्रयास करो और अपने मन की विचलित अवस्था को संभालने का प्रयास करो। जब तुम्हारा मन शान्त और स्थिर हो जाएगा, तब तुम योगावस्था को प्राप्त करोगे। योगावस्था का मतलब होता है ईश्वरत्व की प्राप्ति।

स्थिरबुद्धि मनुष्य के लक्षण

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥2.54॥

यहाँ पर अर्जुन प्रश्न करता है, 'हे कृष्ण, आप कहते हैं कि व्यक्ति की बुद्धि स्थिर होनी चाहिए। संसार में किसकी बुद्धि स्थिर है? और अगर स्थिरबुद्धि का कोई पुरुष है, तो उसके क्या लक्षण होते हैं? वह कैसे बोलता, बैठता, चलता है? इस संसार में उसका आचरण कैसा होता है?'

यहाँ पर अर्जुन एक अहम बात को लाता है। अभी तक भगवान ने अर्जुन को जितनी बातें कहीं हैं, उनमें मुख्य यही है कि अपने मन को ईश्वर से जोड़ो। धर्म और न्याय द्वारा निर्धारित कर्म करो। अनित्य के बजाय नित्य के साथ सम्बन्ध जोड़ो। कर्त्तव्य को निभाते समय फल की अपेक्षा मत करो, परिणाम की आशा मत रखो। सफलता-विफलता की परवाह किये बगैर अपने कर्त्तव्यों को निभाते जाओ और अपने आप को उनके परिणामों से मुक्त रखो। जब जीवन में शोक, विषाद, वासना, आसक्ति, अहंकार, क्रोध और अवसाद के कारण बुद्धि विचलित हो जाती है, तब उस बुद्धि को स्थिर बनाने का प्रयास करो। अब अर्जुन कौतूहलवश कृष्ण जी से पूछता है कि भगवन आप ही बताइए, जिस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो गई है, वह कैसे जीता है, रहता है, चलता है, बोलता है? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं–

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥2.55॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥2.56॥

अर्जुन! पहले इस बात को ध्यान में रखना कि स्थिर बुद्धि उसी व्यक्ति की होती है, जिसने अपने मन में स्थित संपूर्ण कामनाओं का त्याग कर दिया है। जिसके मन की इच्छाएँ और वासनाएँ कम हो गई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होने लगती है। एक बार किसी साधक ने हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी से प्रश्न किया कि आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड क्या है। साधक को कैसे मालूम पड़ेगा कि वह आध्यात्मिक जीवन में प्रगति कर रहा है? क्या आठ घण्टे आसन-प्राणायाम करने से आध्यात्मिक प्रगति का आभास होता है? क्या ध्यान की गहराई में जाने से आध्यात्मिक प्रगति की अनुभूति होती है?

गुरुजी ने जवाब दिया कि आध्यात्मिक प्रगति का लक्षण यही है कि तुम्हारे जीवन में जो कामनाएँ, इच्छाएँ और वासनाएँ हैं, वे धीरे-धीरे कम हो जाएँगी। अभी तुम्हारे जीवन की इच्छाएँ-वासनाएँ-कामनाएँ तुम्हें संसार और उसके भोगों की ओर आकर्षित कर रही हैं। लेकिन जब ये कामनाएँ कम हो जाती हैं और तुम अपने में ही स्थित रहना चाहते हो, तो यह आध्यात्मिक प्रगति का लक्षण है।

श्रीकृष्ण भी यहाँ कह रहे हैं कि स्थिर बुद्धि उस व्यक्ति की है, जो अपने जीवन की इच्छाओं और कामनाओं से मुक्त हो गया है। इच्छा और कामना ही व्यक्ति के मन को चंचल और बहिर्मुखी बनाकर संसार से जोड़ती है। कामना अपने आप में गलत नहीं है, आखिर वही हमें ईश्वर से भी जोड़ती है। लेकिन कामना का उपयोग किस प्रकार से होता है, इस पर ध्यान देना है। जैसे एक चाकू का अपने आप में कोई गुण नहीं होता। लेकिन कर्म के आधार पर उस चाकू के गुण को निश्चित किया जाता है। जब चाकू का उपयोग किसी का गला काटने के लिए करते हो, तब चाकू का उपयोग तामसिक कहलाता है। जब चाकू का उपयोग भोजन हेतु सब्जी काटने में करते हो, तब वह राजसिक कहलाता है। जब चाकू का उपयोग डॉक्टर किसी की जान बचाने के लिए करता है तब वह उपयोग सात्त्विक कहलाता है। चाकू तो एक चीज है, लेकिन कर्म के आधार पर उसके तीन उपयोग और गुण दिखलाई देते हैं।

इसी प्रकार हमारे जीवन की इच्छा और कामना भी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। उसी से हमें जीवन में कुछ प्राप्त करने, जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा

और ऊर्जा मिलती है। हमें केवल यह ख्याल करना है कि उस इच्छा में तामसिकता और राजसिकता न हो। जब इच्छा सात्त्विक होती है, तब उसमें कोई दिक्कत नहीं होती।



जब व्यक्ति के जीवन में इच्छाओं का नकारात्मक प्रभाव नहीं रहता, जब व्यक्ति को बहिर्मुखी बनाकर संसार से बाँधने वाली तामसिक और राजसिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य स्थिर बुद्धि को प्राप्त करता है। स्थिर बुद्धि को प्राप्त करने के बाद उस व्यक्ति के भीतर राग, भय और क्रोध नष्ट हो जाते हैं। दु:ख में भी मन उद्विग्न नहीं होता और सुख की प्राप्ति में भी व्यक्ति सर्वदा नि:स्पृह रहता है। स्थिर बुद्धि के यही लक्षण भगवान यहाँ पर बतलाते हैं।

राग, भय और क्रोध – ये तीनों महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं। राग क्या है? राग का मतलब होता है आकर्षण। योग सूत्रों में कहा गया है, *'सुखानुशयी राग:, दु:खानुशयी द्वेष:।'* जिस भी वस्तु से हमें सुख की प्राप्ति सम्भव लगती है, वहाँ पर हमारा राग होता है, और जहाँ पर दु:ख की सम्भावना है, वहाँ हमारा द्वेष होता है। सुख की खोज हर व्यक्ति के जीवन में राग को प्रबल बनाती है। राग सुख की ओर अन्धी दौड़ है। अगर अपनी बुद्धि को स्थिर बनाना है तो पहले राग, भय और क्रोध, इन तीनों के प्रभाव से मुक्त होना है।

प्रत्याहार

स्थिर बुद्धि मनुष्य के लक्षण जानने के बाद अर्जुन इस अवस्था को प्राप्त करने का उपाय जानना चाहता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को बतलाते हैं -

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश: ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥2.58॥

जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, वैसे ही जब मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

यहाँ पर कृष्ण जी योग के एक अभ्यास की चर्चा कर रहे हैं, जिसे हम लोग कहते हैं 'प्रत्याहार'। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग दर्शन में योग के आठ अंगों को समझाया गया है। इसमें यम और नियम प्रथम दो अंग हैं, जिनका सम्बन्ध आंतरिक संयम और अनुशासन को प्राप्त करने से है। आसन और प्राणायाम तीसरे और चतुर्थ पद हैं, जिनका प्रयोजन शारीरिक स्वास्थ्य और ऊर्जा की वृद्धि है। प्रत्याहार और धारणा पाँचवे और छठे सोपान हैं, जिनका उद्देश्य मन की चंचलता को दूर करना, उसको व्यवस्थित, स्थिर और शांत करना है। सातवें और आठवें अंग में आते हैं ध्यान और समाधि, जिनका प्रयोजन होता है आत्मानुसंधान में प्रवृत्त होना।

यहाँ कृष्ण जी जिस अवस्था की बात कर रहे हैं, वह अवस्था योग के पाँचवें अंग, प्रत्याहार की है। प्रत्याहार में बतलाया जाता है कि अपनी इन्द्रियों को बाहर से समेट लो। आँखें अगर खुली हैं, तो उन्हें बन्द कर लो। कानों में जो आवाज सुनाई दे रही है, उन आवाजों को सुनना बन्द कर दो। इन्द्रियों के सब अनुभवों को एक बार रोक दो। क्षण मात्र के लिए ही सही, लेकिन वह क्षमता होनी चाहिए कि हम इन्द्रियों और मन के इस व्यूह से स्वयं को मुक्त कर सकें। इसी के लिए प्रत्याहार का अभ्यास है। मन को स्थिर और शांत करने तथा भय, राग और क्रोध से मुक्त होने के लिए यहाँ पर श्रीकृष्ण प्रत्याहार की विधि को समझाते हैं। वे आगे कहते हैं –

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥2.61॥

साधक को चाहिए कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। इन्द्रियों को वश में करना ही प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के साधनों में पहला अभ्यास आत्मसजगता की वृद्धि है, और दूसरा अभ्यास है, एकाग्रता को प्राप्त करना। उसके पश्चात् मन जो इन्द्रियों के अनुभव प्राप्त कर रहा है, उस पर रोक लगा देना। इस साधना का अभ्यास हम लोग दिन में भले ही पाँच मिनट करें, लेकिन जरूर करें, ताकि उस चीज को जान सकें जिसकी चर्चा कृष्ण जी यहाँ पर कर रहे हैं।

प्रत्याहार की साधना

अपराह्नकालीन सत्र, 16 फरवरी 2012

अर्जुन का विषाद दूर करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण उसे कर्त्तव्य रूप में कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और समझाते हैं कि जिस मोह के कारण वह शोकमग्न हुआ है, उसका मूल कारण आसक्ति है। जब आसक्ति द्वारा मोह प्रबल बन जाता है, तब बुद्धि भ्रमित हो जाती है और मनुष्य अपने कर्त्तव्य और धर्म को भूल जाता है। उसका मन विचलित हो जाता है, मन की शान्ति समाप्त हो जाती है। जब मन विचलित और अशान्त हो जाता है, तब आदमी निकम्मा बन जाता है। वह न तो कर्मों को सही तरीके से सम्पन्न कर सकता है, न सही चिंतन को अपना सकता है, न ही सही बुद्धि से किसी निर्णय को ले सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तुम अपना कर्त्तव्य निभाते रहो और अपने मन को संभाल कर रखने का प्रयास करो।

अर्जुन पूछता है कि भगवान, मन को संभालने का क्या तरीका है। भगवान उसे बतलाते हैं कि कामनाओं और वासनाओं को कम करके, और मन को राग, भय एवं क्रोध से मुक्ति दिलाकर मन को संभाला जाता है। अर्जुन फिर पूछता है कि राग, भय, क्रोध और इच्छाओं के निराकरण के लिए कौन-सी विधि है? तब भगवान उसे प्रत्याहार के बारे में बतलाते हैं –

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥2.58॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥2.61॥



'जैसे कछुआ सब ओर से अपने अंगों को अपने कवच के भीतर समेट लेता है, वैसे ही जब पुरुष भी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा देता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। अभ्यासी को चाहिए कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके, समाहित चित्त हुआ मेरे पारायण होकर ध्यान में बैठे। जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।'

आपको वह प्रसंग मालूम होगा जब गुरु द्रोणाचार्य अपने शिष्यों की धनुर्विद्या की परीक्षा ले रहे थे। उन्होंने पेड़ पर एक मिट्टी की चिड़िया को रखकर अपने शिष्यों को कहा कि संधान करके चिड़िया की आँख को तीर मारना है। वे एक-एक करके शिष्यों को बुलाते गये। हर एक से पूछते गये– 'तुमने संधान किया? बताओ, क्या देख रहे हो?' गुरु द्रोणाचार्य विद्यार्थी के उत्तर के आधार पर उसे सफल या विफल घोषित कर देते थे। प्राय: सभी शिष्यों ने कहा कि हमें चिड़िया, उसके चारों ओर फल-फूल-पत्ते, आस-पास खड़े बंधु-बांधव, आसमान में उड़ते बादल, सभी कुछ दिखलाई दे रहा है। उनका यह उत्तर सुनकर गुरु द्रोणाचार्य ने उन्हें फेल कर दिया। केवल एक चेला उत्तीर्ण हुआ, जिसने कहा कि मुझे कुछ नहीं, केवल चिड़िया की आँख दिखलाई दे रही है।

इस घटना के माध्यम से गुरु द्रोणाचार्य यह जानना चाह रहे थे कि उनके विद्यार्थियों में कितनी मानसिक एकाग्रता है। उन्हें मालूम था कि जिसका मन

स्थिर, केंद्रित, एकाग्र और शान्त है, उसका निशाना अचूक होगा। इसलिए उन्होंने केवल विद्यार्थियों के उत्तर से ही जान लिया कि उनका निशाना सही होगा या गलत।

प्रत्याहार के सोपान

लोग आँखों को बंद करके ध्यान लगाने की कोशिश करते हैं, लेकिन असली ध्यान आँखों को खोलकर मन को एकाग्र रखते हुए होता है। हमारे गुरुजी ने बचपन में हमसे एक बात कही थी जो हमें आज भी याद है – 'देखो निरंजन! न तो हिमालय की कंदराओं में शान्ति है और न ही मुंगेर के बाजार में कोलाहल। जो कुछ है वह तुम्हारे भीतर है। अगर तुम्हारा मन स्थिर और शान्त रहेगा, तो मुंगेर बाजार के बीचोबीच भी तुम्हें कोई शोरगुल नहीं सुनाई पड़ेगा। अगर सुनोगे भी तो विचलित नहीं होगे। लेकिन अगर तुम्हारा मन अस्थिर, विचलित और अशान्त है, तो हिमालय की कंदराओं और गुफाओं में भी उसे शान्ति नहीं मिलने वाली है। वहाँ पर भी वह उन्हीं कामनाओं और वासनाओं से पीड़ित होगा, जो उसे यहाँ पीड़ा दे रही हैं। इसलिए, अपने मन को संभाल लो।'

श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि इस अभ्यास द्वारा तुम्हारे जीवन में जो मोह और दुःख के कारण हैं, उन्हें तुम जान पाओगे। राग, भय, क्रोध एवं वासना ही मोह और दुःख के कारण हैं। यही तुम्हारे मन को विचलित करते हैं।

योगदर्शन में एक शब्द आता है, 'प्रत्यय'। प्रत्यय का अर्थ होता है मन में एक बीज का पड़ना। जैसे हम धरती में बीज को रोपते हैं, वैसे ही जब मन में कोई विचार, संस्कार, चिंतन या व्यवहार प्रवेश करता है, तब प्रत्यय कहलाता है। जो भी ज्ञान मनुष्य को प्राप्त होता है, वह एक प्रत्यय के रूप में, एक स्मृति के रूप में होता है। आप यहाँ पर आज सत्संग में आए हैं, बाद में चले जाएँगे। लेकिन आपको यहाँ की कुछ चीजें याद रहेंगी, क्योंकि वह जानकारी एक प्रत्यय के रूप में आपके मन में स्थित हो गई है। इसी प्रकार हमें इन्द्रियों के माध्यम से विषयों के बारे में जो जानकारी प्राप्त होती है, वह जानकारी हमारे मन में प्रत्यय रूप में विद्यमान हो जाती है और वही मन को विचलित करती है। वही चीज बार-बार सामने आती है। दुःख याद आता है, सुख भी याद आता है। चाहे दुःख की स्थिति हो या सुख की, दोनों अवस्थाओं में ही मन अशान्त हो जाता है। इसलिये भगवान कहते हैं कि सबसे पहले प्रत्याहार द्वारा अपने मन को शान्त करो।

कायास्थैर्यम् – योग कहता है कि प्रत्याहार की सिद्धि को धीरे-धीरे प्राप्त करना है। सबसे पहले अपने शरीर को स्थिर बना दो, क्योंकि जब तुम्हारा शरीर शान्त हो जाएगा तब शरीर की इन्द्रियाँ भी धीरे-धीरे शान्त हो जाएँगी। इसलिए प्रत्याहार की पहली अवस्था को हम लोग कहते हैं, 'कायास्थैर्यम्' अर्थात् शरीर की स्थिरता को प्राप्त करना। शान्ति पाठ के समय आपसे कहा जाता है न, शरीर को शान्त और स्थिर बना लीजिए। लेकिन बहुत-से लोग उस दौरान भी अपने शरीर को हिलाने के फेर में रहते हैं, तीन-चार मिनट के लिए भी शरीर को स्थिर करना सम्भव नहीं हो पाता है।

कायास्थैर्यम् को सिद्ध करने के लिए शरीर को मूर्तिवत् बना दो। एक मिनट से शुरू करो, फिर उस अवधि को धीरे-धीरे दो, तीन, चार, पाँच, दस, पन्द्रह, बीस मिनट तक बढ़ाओ। जैसे-जैसे शारीरिक स्थिरता की अवधि बढ़ेगी और इन्द्रियों का सम्पर्क संसार से टूटेगा, वैसे-वैसे वे भी शान्त हो जाएँगी। यही बात श्रीकृष्ण ने आगे कही है कि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि, उसका मन शान्त और स्थिर हो जाते हैं। इन्द्रियों को पकड़ने का जो माध्यम है, वह है शरीर। इसलिए शरीर से ही शुरुआत हो।

श्वास-नियंत्रण – उसके पश्चात् आता है श्वसन प्रणाली पर नियंत्रण। श्वास मन की स्थिति को दर्शाती है। जो व्यक्ति शान्त और स्थिर है, अगर आप उसकी श्वास को देखोगे, तो वह धीमी, लम्बी और गहरी होगी। अगर व्यक्ति उत्तेजित है, तो श्वास भी उत्तेजित हो जाएगी। अगर उत्तेजना या आक्रोश के समय हम अपनी श्वास को नियंत्रित कर पाते हैं, तो आक्रोश वहीं पर रुक जाएगा। भय की अवस्था में भी श्वास की गति तीव्र हो जाती है। अगर कभी भयभीत होते हो और देखते हो कि श्वास तेजी से चल रही है, तो श्वास को धीमी कर दो। एक मिनट, दो मिनट, तीन मिनट लम्बी और गहरी श्वास लो। तुम देखोगे कि मन का भय समाप्त हो जाएगा।

हमारी संस्कृति में इन सब चीजों के बारे में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है। लेकिन इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। लोग सोचते हैं कि ये सब व्यावहारिक चीजें नहीं हैं, केवल दर्शन है। इसी गलतफहमी को दूर करने के लिए हमने आज सबेरे निवेदन किया था कि हम गीता को धर्मग्रन्थ नहीं, जीवन का ग्रन्थ मानते हैं। इसमें जीवन जीने की विधि स्पष्ट रूप से बतलाई गई है।

अन्तर्मौन – श्वास नियंत्रण प्रत्याहार का दूसरा चरण हुआ। जब हम शरीर और श्वास की गतिविधियों को स्थिर और शान्त कर पाते हैं, तब फिर मन में

प्रवेश करते हैं। मन को पकड़ने का जो तरीका है, वह है विचारों के द्वारा। अपने मन में आने वाले विचारों का साक्षी बनो, उनको देखो। उनके बारे में सोचो मत, केवल द्रष्टा बनो। मन में जो भी चिंतन हो रहा है, जो भी विचार आ रहा है, उसे देखते जाओ।



विचारों को नियंत्रित करने की इस विधि को अन्तर्मौन कहते हैं। इस विधि द्वारा जब विचार शान्त हो जाते हैं, तब भावनाओं को देखा जाता है। जो भावनाएँ उमड़ती हैं, उनको भी द्रष्टा बनकर शान्त किया जाता है।

जैसे एक बालक मचलता है तो उसकी माँ उसे गोदी में बैठाकर उसके सिर को सहलाते हुए कहती है, 'बेटा! सो जा, आराम कर।' वैसा ही कार्य हमें अपने मन के साथ करना होता है। लोग मन के साथ संघर्ष करते हैं। लेकिन योग कहता है कि मन के साथ संघर्ष नहीं, बल्कि मित्रता करो। तुम मन को अपना दास बनाना चाहते हो, पर अभी तो वह तुम्हारा स्वामी है। स्वामी को तुम दास बनाना चाहते हो, नियंत्रित करना चाहते हो, यह कैसे सम्भव है? इसीलिए आज तक प्रयास करते हुए भी कोई अपने मन को वश में नहीं कर पाया है। सब अपने मन के साथ कुश्ती करना चाहते हैं, इसीलिए सब मात खाते हैं। भगवान कहते हैं कि नहीं, बस इन्द्रियों को स्थिर कर दो। एक बार जब इन्द्रियाँ और मन स्थिर हो जाते हैं, तब तुम राग, भय, क्रोध और वासनाओं के कुप्रभावों से मुक्ति पाओगे। एक बार जब इनसे मुक्ति हो जाती है, तब जीवन में कोई कलह नहीं उत्पन्न होता।

कामना की कड़ी

तब अर्जुन पूछता है, 'भगवान! आप कहते हो कि जब इन्द्रियों का सम्पर्क विषयों के साथ होता है, तब मन भ्रमित हो जाता है। ये कैसे घटित होता है, थोड़ा समझाइये।' इसके उत्तर में भगवान कहते हैं–

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥2.62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥2.63॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥2.64॥

यहाँ पर श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि इन्द्रिय तथा इन्द्रिय-विषयों में जो सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वह किस प्रकार मनुष्य को विचलित कर सकता है। विषयों का चिंतन करने से व्यक्ति में विषयों के प्रति आसक्ति हो जाती है। उदाहरण के तौर पर किसी कार को देखते हो, वह अच्छी लगती है, मन में सोचते हो कि कार खरीदने का समय आ गया है। आँखों ने एक पदार्थ को देखा। देखने के बाद मन में एक आकर्षण उत्पन्न हुआ। बाद में वह आकर्षण कामना का रूप ले लेती है, क्योंकि हम देखते हैं कि हमारे पास पैसा वगैरह सब कुछ है।

मान लो इस बीच में बेटी की शादी निश्चित हो जाती है या घर में कोई बीमार पड़ जाता है। पैसा वहाँ खर्च हो जाता है। इससे मन में निश्चित रूप से एक बेचैनी उत्पन्न होगी कि मैंने जिस धन का गाड़ी खरीदने के लिए संग्रह किया था, अब वह धन मेरे पास नहीं है। यहाँ पर एक निराशा आ जाती है, आक्रोश भी आ सकता है।

इसलिए भगवान कहते हैं कि विषय-सम्पर्क से कामना उत्पन्न होती है और उस कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। वे आगे कहते हैं कि क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न होता है। हम उस विषय के चिंतन में इतना डूब जाते हैं कि किसी और चीज का ख्याल ही नहीं रहता। मन में मूढ़ भाव उत्पन्न होने से स्मृति में भ्रम हो जाता है, जिससे अंत में बुद्धि का, ज्ञानशक्ति का नाश होता है। एक बार जब ज्ञानशक्ति का नाश हो जाए तब यही मान कर चलो कि मनुष्य अपनी स्थिति से गिर गया है, समाप्त हो गया है। आगे भगवान एक और चीज कहते हैं–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥2.64॥

भगवान कहते हैं कि यह सब जरूर होता है, लेकिन जिस व्यक्ति ने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, वह हर प्रकार के आकर्षण-

विकर्षण, राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। वह संसार के विषयों के बीच में विचरण करते हुए आन्तरिक प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

इस संसार में राग और द्वेष हर वस्तु, हर व्यक्ति से जुड़ा रहता है। आज आप किसी व्यक्ति को पसंद करोगे, कल नहीं करोगे। व्यक्ति वही है। किसी अच्छी चीज को घर में खरीदकर लाओगे, उसको सजाकर रख दोगे, लेकिन उसके बाद उसकी धूल झाड़ना भी भूल जाओगे। जिस प्रिय वस्तु ने तुम्हारी नींद हराम कर दी थी, उसे अपने घर में ले आने के बाद उस पर ध्यान भी नहीं जाता। यही राग-द्वेष का खेल है। लेकिन जब एक साधक मन की स्थिरता के लिए प्रत्याहार की साधना को सिद्ध करता है, तब वह राग-द्वेष के प्रभावों से अपने आपको मुक्त कर लेता है।

सतत् सजगता

यहाँ पर एक और संकेत देते हुए भगवान कहते हैं कि जब तुम्हारा मन स्थिर हो जाए, तब उस स्थिरता को कायम रखने के लिए हमेशा प्रयास करो। नहीं तो क्या होगा?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥2.67॥

भगवान सावधान करते हुए कहते हैं कि एक चीज का ख्याल रखना। इन्द्रियों को हमेशा अपने वश में रखना। अगर एक भी इन्द्रिय तुम्हारे नियंत्रण से मुक्त हो जाती है, तो वह तुम्हारे मन का हरण कर सकती है। जैसे समुद्र में अगर थोड़ी-सी भी हवा रहे, तो वह हवा नाव को हिला देगी। उसी प्रकार अगर हम इन्द्रियों पर अंशमात्र भी नियंत्रण खो दें, तो वह पुनः मन को अपनी ओर खींच लेगी।

इन्द्रियों का स्वभाव शान्त नहीं, चंचल है। इसीलिए कृष्ण जी बार-बार कहते हैं कि ध्यान और सजगता के द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करो। धर्म-संगत कर्म करते रहो और अपने मन को नित्य, परमात्म तत्त्व से जोड़कर रखो, ताकि तुम्हारे मन में यह भावना उत्पन्न हो कि मैं कर्ता और भोक्ता नहीं हूँ– *'नाऽहं कर्ता हरिः कर्ता, हरिः कर्ता हि केवलम्।'* मन को मुझ में लगाकर रखो। जहाँ पर तुम्हारे मन में *'अहं कर्ता'* की भावना आएगी, वहाँ पर तुम शान्त अवस्था से दूर हो जाओगे। जहाँ पर तुम यह सोचोगे कि

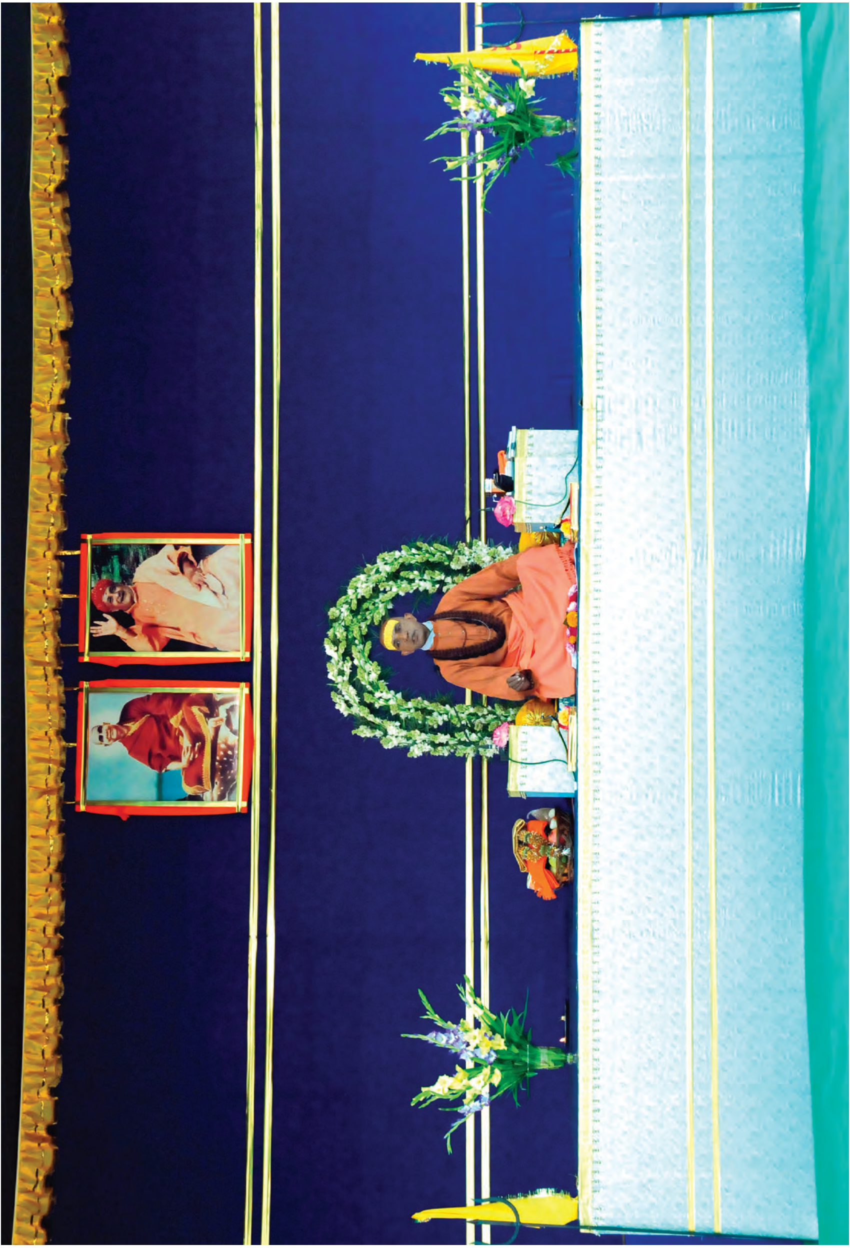


मैं ही सब चीजें भोग रहा हूँ और सब कुछ कर रहा हूँ, वहीं पर तुम अशान्त हो जाओगे।

हारमोनियम या कोई अन्य वाद्य अपने आपको स्वयं नहीं बजा सकता। हारमोनियम को बजाने वाला कोई और होता है। अगर बजाने वाला सही तरीके से हारमोनियम बजाए, तो उससे मन को मुग्ध करने वाले सुन्दर स्वर निकल सकते हैं। उसी तरह से तुम्हारे मन में यह विचार आना चाहिए कि मैं केवल एक वाद्य हूँ, जिसे कोई और बजा रहा है। करने वाला मैं नहीं हूँ, प्रभु ही मेरे से सब कुछ करवा रहे हैं।

मनुष्य अपना कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। कर्म मनुष्य के भाग्य द्वारा निर्देशित किए जाते हैं। लेकिन मनुष्य का सम्बन्ध अनित्य से होने के कारण वह सोचता है कि मैं ही करने वाला हूँ। यह एक भ्रान्ति है। जब सम्बन्ध नित्य से हो जाए, तब वह कभी नहीं सोचेगा कि मैं कर्ता हूँ। बल्कि उसके मन में यह ज्ञान होगा कि मैं केवल एक माध्यम हूँ, जिसके द्वारा भाग्य अपना काम कर रहा है। सभी मनीषियों ने यही बात कही है। तुलसीदास जी ने भी इसीलिए कहा है – *'जाहि विधि राखे राम, ताहि विधि रहिए।'*

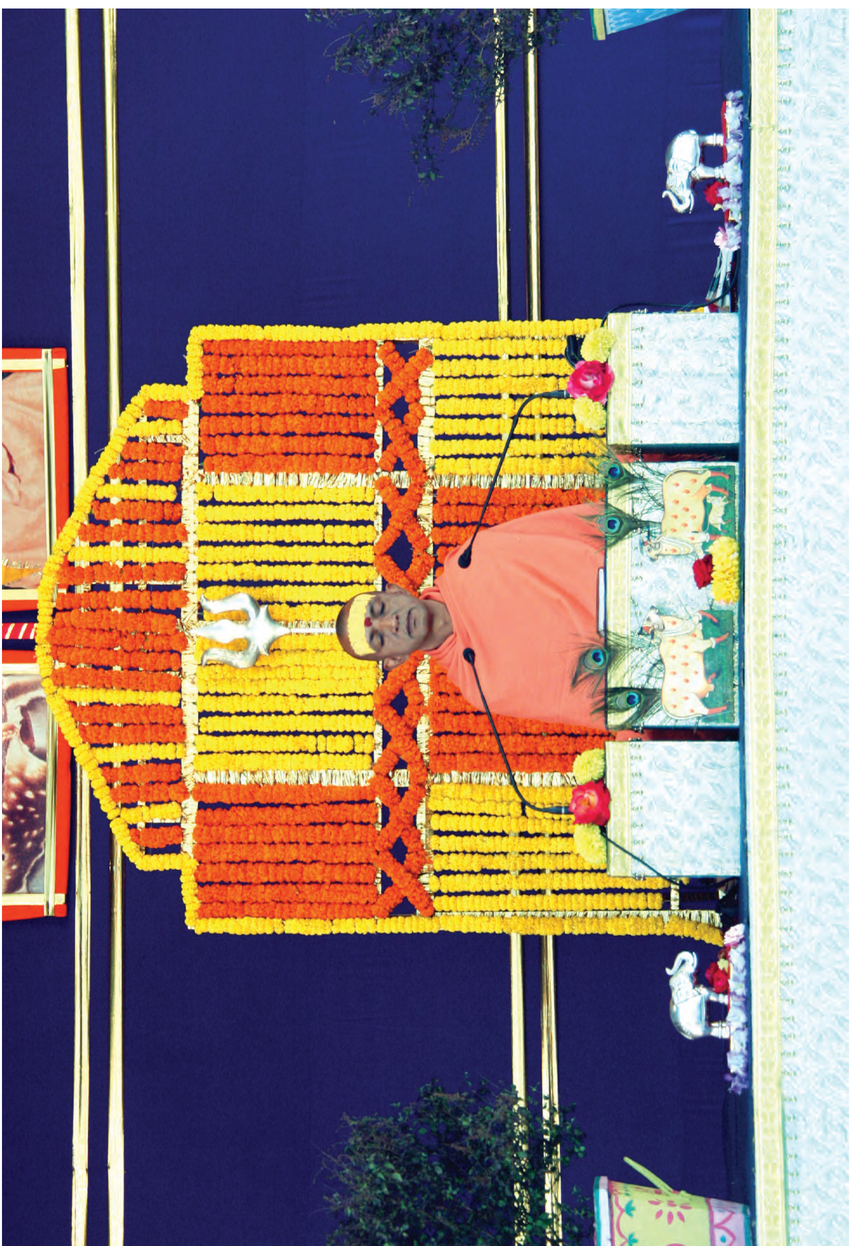
















कर्मयोग और ज्ञानयोग

प्रात:कालीन सत्र, 17 फरवरी 2012

श्रीकृष्ण द्वारा निर्देशित योग दर्शन और साधना में हमने देखा कि भगवान शोक, विषाद, मोह, ममता आदि के चार मुख्य कारण बताते हैं। पहला कारण है आसक्ति या राग। दूसरा कारण है भय या असुरक्षा की भावना। तीसरा कारण है क्रोध और चौथा है इच्छाओं और वासनाओं का उत्पन्न होना। अपने मन को संभालने के लिए श्री कृष्ण अर्जुन को जो भी तरीके बतला रहे हैं, इन चार बिन्दुओं को सामने रखकर ही बतला रहे हैं। कर्म को कर्त्तव्य के रूप में करो और अपने मन को संभालते हुए चलो। मन को संभालने के लिए राग, भय, क्रोध और वासना, इन चार अवस्थाओं को नियंत्रित करने का प्रयास करो। इन चारों को अपने नियंत्रण में लाने के तरीके को श्रीकृष्ण ने कछुए की उपमा दी है। वे समझाते हैं कि जैसे कछुआ अपने अंगो को कवच के भीतर समेट लेता है, वैसे ही तुम भी अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा कर अपने भीतर केन्द्रित कर दो। इस प्रकार से श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रत्याहार की शिक्षा देते हैं।

कर्मयोग की व्याख्या

यह सब सुनने के बाद अर्जुन एक प्रश्न करता है कि भगवन्! यदि आप कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर मुझे भयंकर कर्म करने को क्यों कह रहे हैं? एक तरफ आप कहते हो कि ज्ञान उत्तम है। ध्यान के द्वारा ज्ञान प्राप्त करो। दूसरी तरफ मुझसे यह घोर कर्म, युद्ध करने के लिए कहते हो। जब ज्ञान और ध्यान का मार्ग उत्तम है, तब आप मुझे कर्म करने के लिए क्यों कहते हैं?

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥3.1॥

इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर करते हैं–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै: ॥3.5॥

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कोई भी मनुष्य क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म के नहीं रहता, क्योंकि समस्त मनुष्य जाति, सारी सृष्टि प्रकृतिजनित गुणों के वशीभूत होकर कर्म करने के लिए बाध्य हो जाती है। कर्म केवल जीवन का धर्म ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि की आधारशिला है। जो भी इस सृष्टि में आता है, वह कर्म से अलग नहीं होता। बल्कि कर्म उसके जीवन का अंग होता है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं, चेतन और अचेतन। चेतन कर्म में तुम्हें मालूम रहता है कि मैं काम कर रहा हूँ या नहीं, करना चाहता हूँ या नहीं। चेतन कर्म को तुम अपनी इच्छा द्वारा निर्देशित कर सकते हो। लेकिन अचेतन कर्म हर समय शरीर, मन, बुद्धि और भावना में चलता रहता है। वही तुम्हें तुम्हारे जीवन की जानकारी देता है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म के बिना कोई भी व्यक्ति नहीं रह सकता।

जब कर्म के बिना कोई व्यक्ति नहीं रह सकता तो सबसे अच्छा उपाय यही है कि कर्म करते रहो। यह संसार कर्म का क्षेत्र है। कर्म के क्षेत्र में तुम कर्म का त्याग कैसे कर पाओगे? जहाँ पर कर्म द्वारा ही सब कुछ प्राप्त होता है, वहाँ पर तुम बिना कर्म के कैसे रह सकते हो? कर्म तो करना ही पड़ेगा। लेकिन एक उपाय जरूर कर सकते हो–

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते ॥3.7॥

जो मनुष्य अपने मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है। यहाँ पर पहली बार कृष्ण जी ने 'कर्मयोग' शब्द का प्रयोग किया है, अभी तक वे कर्म शब्द का प्रयोग कर रहे थे। उनके कहने का तात्पर्य है कि अपनी इन्द्रियों को वश में करो और अनासक्त होकर कर्म करो। जो इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त होकर कर्म करता है, उस व्यक्ति को कर्मयोगी कहते हैं, और उस अवस्था को कर्मयोग।

कृष्ण जी ने यहाँ पर कर्मयोग की सुन्दर और उत्तम व्याख्या दी है। वे मात्र यह नहीं कह रहे कि तुम काम करो और फल की आशा मत करो। वह तो एक दर्शन, एक सिद्धान्त हुआ। जब इन्द्रियाँ हमारे वश में हो जाएँ, हमारे मन को भ्रमित न करें, तब कर्मयोग सिद्ध होने लगता है। अगर कर्म में आसक्ति न हो, बल्कि अनासक्त होकर कर्म किया जाए तो वह कर्मयोग कहलाता हैं। इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह और अनासक्ति, ये कर्मयोग के दो चरण होते हैं। हम लोग जीवन में कर्म करते रहते हैं। लेकिन उस कर्म में अपनी वासनाओं, इन्द्रियों और मन को संभाल नहीं पाते, जिसका दुष्परिणाम हमें भुगतना पड़ता है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि इन्द्रिय-संयम तथा अनासक्ति, दोनों को कर्म से जोड़ो। अगर ये दोनों कर्म से जुड़ जाएँ, तो कर्म बंधन का कारण नहीं, बल्कि उत्थान और मोक्ष का कारण बनेगा। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं–

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥3.30॥

'अपना चित्त परमात्मा में लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों को परमात्मा के प्रति अर्पित करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर कर्म कर, युद्ध कर।' एक बार जब व्यक्ति में अनासक्ति की भावना आ जाती है, जब विषयों से वह अपने आंतरिक आकर्षण को दूर कर देता है, तब मन में आशा समाप्त हो जाती है, व्यक्ति ममतारहित और संतापरहित हो जाता है। आशारहित, ममतारहित, संतापरहित होना बहुत बड़ी चीज है।

जब मन का सम्बन्ध विषयों से होता हैं, तब अपेक्षाओं और वासनाओं का जन्म होता है, और उस समय ममता जागती है। ममता का मतलब हुआ मेरा अपना अस्तित्व, मेरा अपना ख्याल। अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए मैं हर प्रकार का प्रयत्न करता हूँ, अपने आपको इस संसार का केन्द्रबिन्दु बना लेता हूँ। मेरा जो भी प्रयास होता है, जो भी कर्म होता है, वह मेरी ही इच्छा की पूर्ति के लिए होता है। इस प्रकार ममता स्वार्थ का रूप भी ले लेती है। आदमी अपने में ही पागल हो जाता है। यहाँ पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग सिद्ध करने के लिए जो सूत्र दिया है, वह अनासक्ति का सूत्र है। अगर व्यक्ति आसक्त नहीं होगा तो संतापरहित, दुःखरहित, ममतारहित और फल की आशा से मुक्त हो जाएगा। कृष्ण जी आगे समझाते हैं–

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥3.34॥

हर इन्द्रिय और उसके विषय में राग और द्वेष छिपे रहते हैं। मनुष्य को राग और द्वेष, दोनों को वश में करना चाहिए, क्योंकि ये दोनों ही कल्याण-मार्ग में विघ्न करने वाले महान् शत्रु हैं। जब भी तुम कुछ करोगे, इनमें से एक गुण तुम्हें प्रभावित करेगा। इसीलिए अनासक्त होकर रहो। जब अनासक्त रहोगे, तब कर्म सफल होगा। लेकिन हर कर्म को प्रेरित करने वाला प्रबल तत्त्व काम है, जिसके बारे में श्रीकृष्ण सावधान करते हैं–

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥3.39॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥3.40॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥3.43॥

'अग्नि के समान कभी पूर्ण न होने वाला काम ज्ञानियों के लिए नित्य वैरी का रूप लेता है और उनके ज्ञान को ढक लेता है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि– ये सब काम के वास स्थान कहे जाते हैं। यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को ढककर जीवात्मा को मोहित करता है। इसलिए बुद्धि से परे अत्यंत सूक्ष्म और श्रेष्ठ आत्मा को जानकर, बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार डाल।'

कामवासना ही व्यक्ति को राग या द्वेष से जोड़ती है, यही ज्ञान को ढक देती है। जब कामवासना ज्ञान को आच्छादित कर देती है, तब जीवात्मा उसी कामवासना से मोहित हो जाती है। इस प्रकार विषयों, इन्द्रियों और मन में कामवासना ही राग और द्वेष की जड़ होती है।

यहाँ पर कामवासना का तात्पर्य पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध से नहीं हैं। यहाँ पर 'काम' का तात्पर्य मन की एक ऐसी अवस्था से है जिसमें वह एक ही चीज को बार-बार सोचते रहता है। मन में कोई धुन या सनक सवार हो जाती है, जो एक ही चीज को पकड़े रहती है। वह चीज मन से मुक्त नहीं हो पाती। श्रीकृष्ण के अनुसार मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ ही इस काम के अधिष्ठान, आवास और आश्रय हैं।



कर्मयोग नामक इस तीसरे अध्याय में श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति मुख्य संदेश यही है कि तुम अनासक्ति की भावना से जुड़कर राग, भय और क्रोध को अपने नियंत्रण में करो और कर्मयोग की भावना को लेकर चलो, ताकि तुम्हारे जीवन में जो काम और वासना की सनक है, उसे तुम रोक सको, शांत कर सको।

ज्ञानरूपी तपस्या

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥4.10॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥4.23॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥4.24॥

चौथे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गए हैं और जो मुझमें प्रेमपूर्वक स्थित रहते हैं, ऐसे बहुत-से भक्त ज्ञानरूपी तपस्या से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। वे

आगे कहते हैं कि जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई है, जो देह-अभिमान और ममता से रहित हो गया है और जिसका चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता हैं, ऐसे यज्ञरूपी कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म मुझमें ही विलीन हो जाते हैं। कृष्ण जी आगे कहते हैं कि जिस यज्ञ में अर्पण भी ब्रह्म है, हवन किए जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है, कर्ता और अग्नि भी ब्रह्म है और आहुति देने की क्रिया भी ब्रह्म है, उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किए जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही होता है।

चौथे अध्याय का नाम ज्ञानकर्मसंन्यास-योग है, जिसमें कर्मयोग की विचारधारा ही आगे बढ़ रही है। तीसरे अध्याय के अंत में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम काम को वश में करो, क्योंकि जब काम वश में हो जाता है तब राग, भय और क्रोध पूर्णरूपेण नष्ट हो जाते हैं। एक बार जब राग, भय और क्रोध पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं, तब ज्ञानरूपी तपस्या के द्वारा साधक मेरे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। यहाँ पर भगवान ने ज्ञान को भी तपस्या कहा है, क्योंकि ज्ञान को जीवन में चरितार्थ करने के लिए प्रयास करना पड़ता हैं। ज्ञान केवल खोपड़ी की विषय-वस्तु नहीं है कि आपने किसी चीज को जान लिया और फिर खोपड़ी में ताला लगा दिया।

देखा जाए तो दुर्योधन भी कम ज्ञानी नहीं था। महाभारत युद्ध के पहले जब श्रीकृष्ण सन्धि का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर गए थे, तब उनका प्रस्ताव सुनकर दुर्योधन ने कहा कि आप जो कह रहे हैं, वह सत्य है, लेकिन मेरी एक कमजोरी है। *'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः'* – धर्म क्या है, मैं यह भली-भाँति जानता हूँ। लेकिन उस ओर मेरी प्रवृत्ति, मेरी रुचि नही है। *'जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः'* – अधर्म क्या है, वह भी मैं अच्छे से जानता हूँ, लेकिन अधर्म मार्ग से अपने आप को मुक्त नहीं कर सकता हूँ।

ये दुर्योधन के शब्द हैं और उसकी जैसी स्थिति हम लोगों में भी दिखलाई देती है। हम लोग बहुत सारी चीजें जान तो लेते हैं, लेकिन उस ज्ञान को अपने व्यवहार में नहीं उतार पाते हैं। अच्छा क्या है, सब जानते हैं, लेकिन व्यवहार में उतारना कितना कठिन होता है। बुरा क्या है, सब जानते हैं लेकिन अपने आचरण से उस चीज को दूर करना बहुत मुश्किल हो जाता है। ज्ञान केवल एक बौद्धिक व्यायाम नहीं है। जो हम जानते हैं उसे अपने जीवन में चरितार्थ करना ही वास्तव में ज्ञान की तपस्या है, जिसके लिए मनुष्य को बहुत प्रयत्न, पुरुषार्थ और संघर्ष करना पड़ता है।

आपने अपने जीवन में कभी-न-कभी अनुभव किया होगा कि जब हम किसी एक विचार को, किसी एक ज्ञान को चरितार्थ नहीं कर पाते हैं, तब मन में द्वन्द्व उत्पन्न होता है। एक व्यापारी दुकान में बैठकर अन्न बेचता है। उसमें मिलावट होती हैं, लेकिन वह अन्न का पूरा गुणगान करके उसे बेचता है। बाद में उसके मन में यह विचार भी आता है, 'मैं गलत कर रहा हूँ, इसमें मिलावट है। लेकिन फिर भी मुझे कहना पड़ रहा है कि यह शुद्ध है। अगर मैं कहूँगा कि इसमें मिलावट है तो कोई नहीं खरीदेगा, मैं भूखा रह जाऊँगा।' अगर वही व्यवसायी यह कह दे कि इस अन्न में मिलावट है और इसका आधा दाम हैं, वह अन्न शुद्ध है, उसका पूरा दाम है, तो उसमें कोई हर्जा नहीं है। मिलावट का आधा दाम और शुद्ध का पूरा दाम। तुम्हें जो चाहिए, अपनी हैसियत के हिसाब से ले लो। अगर तुम्हें अच्छी चीज चहिए तो अच्छी चीज लो। अगर तुम्हारी जेब हल्की है, तो मिलावट वाली चीज ले लो। दोनों चीजें उपलब्ध हैं। झूठ बोलने की कोई आवश्यकता नहीं।

व्यक्ति को गलत कार्य, गलत चिन्तन या गलत व्यवहार करने से जो ग्लानि होती है, वह मन को चोट मारती है। भले ही तुम लोग इस बात को स्वीकार करो या न करो, लेकिन सत्य यही है कि कहीं-न-कहीं असत्य हमारे मन को चोट पहुँचाता है। अगर हम मिलावटी और शुद्ध, दोनों वस्तुएँ रखें तो क्या हर्जा है? हमारा मन तो साफ रहेगा। ग्राहक को जो खरीदना है, खरीदे। अच्छा भी उपलब्ध है और खराब भी। लेकिन खराब को अच्छा कहकर बेचना, यह ज्ञान की तपस्या नहीं, बल्कि ज्ञान का निरादर है। यहाँ पर ज्ञान को आत्मसात् नहीं बल्कि उसे अपने जीवन से दूर किया जा रहा है।

इसीलिए यहाँ पर भगवान ने एक विशेष शब्द 'ज्ञानरूपी तपस्या' का उपयोग किया है। जिस किसी दुर्लभ चीज को प्राप्त करने के लिए तुम साधना करते हो, उसी प्रकार ज्ञान को सिद्ध करने के लिए भी साधना की आवश्यकता पड़ती है। जब ज्ञान सिद्ध हो जाता है, तब आसक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है।

आगे श्रीकृष्ण कहते हैं कि जिसकी आसक्ति पूर्ण रूप से नष्ट हो गई है और जो देहाभिमान एवं ममता से रहित हो गया है, उसके द्वारा सम्पादित किए गए सभी कर्म ईश्वर में ही विलीन हो जाते हैं। यहाँ पर ज्ञान की प्राप्ति के साथ फिर से यह भाव आता है कि न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता। कर्ता-भोक्ता कोई और है। इसलिए कृष्ण जी कहते हैं कि जब तुम ज्ञान को प्राप्त करके काम का



आवरण हटा देते हो, तब तुम्हारे द्वारा किए गए सभी कर्म यज्ञस्वरूप होकर ईश्वर को स्वत: अर्पित हो जाते हैं। फिर वे आगे कहते हैं–

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥4.41॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मन: ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥4.42॥

'जिसने कर्मयोग की विधि को सिद्ध करके, समस्त कर्मों को परमात्मा को अर्पित कर दिया है और जिसने ज्ञान द्वारा, विवेक द्वारा समस्त संशयों का नाश कर दिया है, ऐसे व्यक्ति को कर्म संसार से नहीं बाँधते। इसलिए तू हृदय में स्थित इस अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा छिन्न कर समत्व रूपी कर्मयोग में स्थित हो जा।'

यहाँ पर दो चीजें दिखलाई दे रही हैं। पहली, प्रभु अर्जुन को कर्म करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं, और दूसरी, अर्जुन को कर्म से आसक्ति हटाने के लिए कह रहे हैं। कर्म करो और साथ ही कर्म से अपनी आसक्ति को हटा दो। जब कर्म से तुम्हारी आसक्ति हट जाएगी, तब मन, इन्द्रिय और बुद्धि शांत हो जाएँगे। फिर तुम्हारा चित्त संसार के विषयों और आकर्षणों में न लगकर, आत्मतत्त्व में केन्द्रित हो जाएगा। जब तुम उस एकाग्रता को, उस स्थिरता को प्राप्त कर लोगे, तब तुम्हारे समस्त कर्म ईश्वर को ही समर्पित हो जाएँगे।

कर्म संन्यास

अपराह्नकालीन सत्र, 17 फरवरी 2012

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित योग साधना की चर्चा के क्रम में गीता के अलग-अलग अध्यायों में जो विषय आए हैं, उन्हें एक बार क्रमवार समझकर फिर आगे के विषय में बढ़ेंगे। गीता का पहला अध्याय विषाद से आरंभ होता है। यह विषाद अर्जुन की अपने सम्बन्धियों से आसक्ति के कारण उत्पन्न होता है। अर्जुन के मन में विचार पैदा होता है कि अपने स्वजनों को मारकर मैं कैसे सुखी रहूँगा। स्वजनों में उसकी आसक्ति ही मोह, मूढ़ता और शोक का कारण बनती है। अर्जुन को इस अवस्था में देखकर श्रीकृष्ण का प्रयास रहता है कि अर्जुन को अवसाद की अवस्था से निकालकर अपने कर्त्तव्य को निभाने के लिए प्रेरित करें।

इस संदर्भ में वे दूसरे अध्याय में अर्जुन को तरीका बतलाते हैं कि कर्म को सही रूप में कैसे सम्पन्न किया जा सकता है। पहला निर्देश यह कि कर्म में आसक्ति न हो, उससे कोई अपेक्षा न हो, उसे मात्र कर्त्तव्य रूप में करो। यह व्यवहार की बात हो गई। फिर कृष्ण जी कहते हैं कि जो मन कर्म से जुड़ा हुआ है, उस मन को स्थिर बनाने का प्रयास करो। स्थिर मन सिद्धि में भी प्रसन्न रहता है और असिद्धि में भी। मन की यह समता की अवस्था ही योग की स्थिति है।

ऐसा कर्म तुम्हारे जीवन के उत्थान में सहायक होगा। जब तक कर्म हमें विषयों से, व्यक्तियों से, संसार से, फल की अपेक्षाओं से बाँधता है, तब तक कर्म बाधक है। किन्तु जब समत्व की भावना अपनाकर तुम अपने मन को थोड़ा-सा सुव्यवस्थित करोगे, तब जो भी कर्म तुम करोगे, वह कर्म का वास्तविक रूप

होगा। कर्म एक चीज है, और कर्म से जुड़ी अपेक्षा अलग चीज। हम अपनी अपेक्षा को कर्म के साथ जोड़ देते हैं। लेकिन अपनी अपेक्षा को कर्म से अलग रखकर भी कर्म को कर्त्तव्य रूप में सम्पन्न किया जा सकता है।

ऐसा कर पाना स्वयं व्यक्ति पर निर्भर है, इसमें किसी शास्त्र या संत को समझाने की आवश्यकता नहीं है। यह तो हमारा स्वयं का निर्णय है कि हम किस प्रकार से अपना कर्म करें। संत और शास्त्र केवल निर्देश दे सकते हैं कि धर्म और न्याय के अनुसार क्या सही है और क्या गलत। लेकिन उस पर अमल करना हमारी जिम्मेदारी है, हमारा प्रयास है। वह जिम्मेदारी न शास्त्र की होती है, न साधु की।

भगवान आगे कहते हैं कि अपने मन को स्थिर करने के लिए पहले कामनाओं का त्याग करो और तुम्हारे मन में जो मोथे उपज रहे हैं, उन मोथों को निकाल डालो। जीवन के उद्यान में तीन प्रकार के मोथे हैं – राग, भय और क्रोध, जो उद्यान को सुन्दर नहीं बनने देते। राग, भय, क्रोध और वासनाओं को कम करने और मन को स्थिर करने के लिए प्रत्याहार की साधना है। अपनी इन्द्रियों को बाहर के विषयों से भीतर खींच लो, क्योंकि जब इन्द्रियों का सम्बन्ध भौतिक विषयों से होता है, तब व्यक्ति की वैसी ही स्थिति होती है, जैसे सागर में नौका की होती है। सागर में तूफान आए या मन्द हवा चले, वह हवा उस नौका को हिला देती है। वैसे ही इन्द्रियाँ विषयों से चाहे प्रबल रूप से जुड़ें या मात्र उनका आभास हो, मन की नौका जरूर डगमगाएगी। इसलिए प्रत्याहार की साधना से तुम अपनी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करो। जब तुम्हारी इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं, मन शान्त और स्थिर हो जाता है, तब तुम योग को प्राप्त करोगे, अर्थात् परमात्मा से तुम्हारा संयोग होगा।

तीसरे अध्याय में भगवान बतलाते हैं कि जब तुम अपनी इन्द्रियों को वश में करके, विषयों से अनासक्त होकर, समस्त इन्द्रियों की प्रतिभा के साथ कर्म करते हो और मन को स्थिर बना लेते हो, तब तुम्हारे द्वारा जो कर्म सम्पादित होता है, वह कर्मयोग कहलाता है। जिस कर्म में विषयों की आसक्ति नहीं होती, उस कर्म से बंधन की बजाय मुक्ति मिलती है।

हर कर्म में परिपक्वता और पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयास करो। कर्म अधूरा नहीं, पूर्ण होना है। यंत्रवत् नहीं बल्कि सजगता के साथ होना है। अगर अपने घर में झाड़ू लगाते हो या कपड़े धोते हो, यह मानकर चलो कि मैं जीवन में यह काम पहली और अंतिम बार कर रहा हूँ। हर काम को बेहतर तरीके से

सम्पादित करने का प्रयास करो। इससे कर्म के साथ रचनात्मक प्रवृत्ति जुड़ेगी। जब कर्म के साथ रचनात्मक प्रवृत्ति जुड़ती है, तब वह कर्म कर्मयोग बनता है। जब मनुष्य प्रतिभाओं के साथ युक्त होकर कर्म का संपादन उसके अंतिम चरण तक करता है, तब वह कर्मयोग कहलाता है।

इस कर्मयोग द्वारा जीवन से संताप, ममता और फल की आशा दूर हो जाते हैं। यह कर्मयोग की उपलब्धि मानी गई है। लेकिन यहाँ पर भगवान एक संकेत भी देते हैं कि यह सब करते हुए तुम्हें सावधान रहना है, क्योंकि हर व्यक्ति के भीतर में एक ऐसी प्रवृत्ति रहती है, जो मनुष्य की बुद्धि और विवेक का हरण कर लेती है। इसी प्रवृत्ति को काम कहते हैं।

सामान्य रूप से लोग काम का अर्थ सम्भोग से लगाते हैं। निश्चित रूप से उसका एक अर्थ सम्भोग भी होता है, लेकिन काम की परिभाषा सम्भोग तक ही सीमित नहीं है। काम का मतलब होता है इच्छा में प्रबलता। चाहे वह प्रबलता किसी कामना में हो या किसी इन्द्रिय में या मन में या बुद्धि में या चिन्तन में, जब भी जीवन के किसी अनुभव में प्रबलता का आभास होने लगे, तब उसे काम कहते हैं।

यह काम हर व्यक्ति के जीवन में छिपकर बैठा हुआ है। कहाँ पर? इन्द्रियों में, मन में, बुद्धि में। इसी काम को भगवान शंकर ने भस्म किया था, पर अब यह अदृश्य रूप में हम लोगों के भीतर विद्यमान है। यह आसक्ति, राग, भय और क्रोध को पीछे से सहारा देता है। इसीलिए भगवान अर्जुन को काम से संभलने की चेतावनी देते हैं।

संन्यास – कर्तापन का त्याग

तब अर्जुन कृष्णजी से पूछता है कि भगवन्, काम को समाप्त करने का कौन-सा सरल उपाय है? भगवान कहते हैं कि काम को समाप्त करने का एक ही उपाय है – संन्यास ले लो। बिना संन्यास लिए इस काम का अंत नहीं होता। लेकिन संन्यास का मतलब क्या? घर छोड़ देना? नहीं। संन्यास का वास्तविक अर्थ होता है, कर्मों में कर्तापन का त्याग। अगर कर्मों में कर्तापन का त्याग हो जाए, तो व्यक्ति संन्यासी है। प्रभु बार-बार संकेत देते हैं कि तुम्हारा मन जो अभी बाह्य विषयों से जुड़ा हुआ है, उसको मुझमें लगा दो। जब तुम अपने कर्मों को मुझे अर्पित कर दोगे, तब फिर तुम्हारे जीवन में कर्तापन का भाव नहीं रहेगा।

गृह त्यागने को, गेरू वस्त्र धारण करने को या सिर मुड़ाने को ही संन्यास नहीं कहते। यह तो एक अनुशासन है, एक व्यवस्था है। असली संन्यास है जीवन में, कर्मों में कर्तापन का अभाव। यही बात हमारे परमगुरु स्वामी शिवानन्द जी ने हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी को संन्यास देने के समय कही थी।

संन्यास लेने के पूर्व स्वामी सत्यानन्द जी पूछते हैं कि संन्यास लेने के बाद मुझे क्या करना होगा? स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं, 'अभी तक जो करते आए हो, वही करना होगा। तुम रोज झाड़ू लगाते हो न? वही जारी रखना होगा। तुम ऑफिस में रोज काम करते हो न? चिट्ठी-पत्री का जवाब देते हो, बही-खाता देखते हो, रोज वही करना होगा। तुम रसोई का भी तो काम संभालते हो न? बाजार से सब्जी, अनाज वगैरह लाते हो, वह भी रोज करना होगा।'

स्वामी सत्यानन्द जी ने कहा, 'अगर संन्यास के बाद भी वही सब करता रहूँ जो संन्यास के पहले मैं करता था, तो संन्यास का क्या फायदा? बेहतर होगा कि मैं घर लौट जाऊँ। घर में कम-से-कम कुछ व्यक्तियों की देखभाल तो कर सकता हूँ।'

स्वामी शिवानन्द जी ने कहा, 'नहीं। जब तुम घर जाकर कर्म करोगे, तब वहाँ पर कर्म तुम्हें बाँधेंगे। वही काम यदि तुम आश्रम में रहकर करोगे, तब वह कर्म तुम्हें नहीं बांध सकेगा। जब घर में काम करोगे, तब मन में हमेशा भाव रहेगा कि मैं अपने लिए, अपनों के लिए काम कर रहा हूँ। इससे चिंता, तनाव, परेशानी और संघर्ष रहेगा। सफलता में तुम प्रसन्न हो जाओगे और विफलता में दु:खी। संसार में हर व्यक्ति का जीवन जैसे चलता है, तुम्हारा जीवन भी वैसे ही चलेगा। लेकिन अगर वही काम तुम आश्रम में करोगे, तो तुम्हारे मन में हमेशा यह भावना रहेगी कि मैं जो भी अच्छा या बुरा कर रहा हूँ, उसका परिणाम गुरुजी जानेंगे। मैं तो मात्र सेवा रूप में कर्म कर रहा हूँ, जिसमें मेरी कोई अपेक्षा नहीं, कोई आशा नहीं। इसलिए सब कुछ करते हुए भी तुम कर्म के बंधन से मुक्त रहोगे।'

गुरु-सेवा का महत्त्व

जब कोई जिज्ञासु जीवनचर्या में परिवर्तन के लिए या किसी आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए या संन्यास मार्ग पर चलने के लिए किसी गुरुकुल या



आश्रम में प्रवेश लेता है, तब आश्रम परम्परा कहती है कि बारह साल गुरु-आश्रम में रहकर सेवा करो। परम्परा यह नहीं कहती कि बारह साल गुरु-आश्रम में रहकर ध्यान करो, तपस्या करो। नहीं, सेवा करो। सेवा के क्रम में गुरुजी जो सिखा दें, सो सिखा दें। लेकिन विद्यार्थियों को मूल रूप से बारह साल गुरु के सान्निध्य में रहकर गुरु की सेवा करने की बात कही जाती है।

इसके पीछे यही कारण है कि चेला गलती से भी कर्म से विमुख न हो। जब कोई व्यक्ति संन्यास मार्ग में प्रवृत्त होता है, तब शुरू में सोचता है कि अब तो समाज के किसी भी नियम-कानून से मेरा कोई लेना-देना नहीं। मैं स्वतंत्र हो गया, अब समाज मेरी देखभाल करेगा। और घर-घर भिक्षा माँगने, वस्त्र माँगने, धन माँगने के लिए चल पड़ता है। सोचता है कि कुटिया बनाएँगे, आश्रम बनाएँगे, साधना करेंगे। लेकिन परम्परा कहती है कि नहीं, साधना करनी है तो बारह साल के बाद करो। बारह साल तक सेवा करो, ताकि तुम कर्म के सकारात्मक पक्ष को जान सको और नकारात्मक पक्ष से अपने को मुक्त रख सको। और कालान्तर में यह भाव दृढ़ हो जाए कि *'नाहं कर्ता, हरि: कर्ता, हरि: कर्ता हि केवलम्'*।

संन्यास तो कर्मों में कर्तापन का त्याग है और बिना संन्यास के कर्मयोग सिद्ध नहीं होता। मतलब जब तक कर्तापन का भाव रहेगा, कर्मयोग सिद्ध नहीं

होगा। जब कर्मयोग करते हो, तब उस समय भी कर्तापन का अभाव रहना चाहिए। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि इस चीज को समझने वाला व्यक्ति देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता और मूँदता हुआ भी यह मानता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ।

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥5.8॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥5.9॥

कहने का मतलब सामान्य जीवन की प्रक्रियाओं में भी यह अहंकार नहीं होना चाहिए कि मेरे द्वारा यह सब हो रहा है। तुम श्वास ले रहे हो, लेकिन किसके बल पर? तुम सोचते हो कि तुम श्वास ले रहे और छोड़ रहे हो। लेकिन जब तुम सो जाते हो, तब कौन श्वास लेता है? रात को सोते हुए श्वास क्यों नहीं रुकती? शरीर और इन्द्रियाँ अपने कर्मों के अनुसार व्यवहार करते हैं, मन अपने कर्मों के अनुसार काम करता है। इस प्रकार के बुद्धि जनित ज्ञान से कर्तापन की भावना का त्याग करना है।

अर्जुन ने शुरू में श्रीकृष्ण से जो प्रश्न किया था कि स्थिर मति वाला व्यक्ति किस प्रकार रहता है, बोलता है, खाता है, सोता है, उठता है, भगवान यहाँ उसी का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह एक सामान्य व्यक्ति की तरह सब कुछ करता है। लेकिन सब कुछ करते हुए भी मानता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य: ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥5.10॥

'जो व्यक्ति अपने कर्मों को परमात्मा में अर्पित कर देता है और आसक्तिरहित होकर इस जीवन को जीता है, वह व्यक्ति उसी प्रकार है, जैसे जल में कमल। जिस प्रकार जल कमल को प्रभावित नहीं करता, उसी प्रकार इस व्यक्ति को कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता।'

कर्म द्वारा आत्मशुद्धि

भगवान आगे बतलाते हैं कि कर्म करते समय संन्यासी का उद्देश्य क्या होना चाहिए–

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥5.11॥

जो कर्मयोगी है, जो कर्तापन का त्याग कर चुका है और संन्यास की भावना को प्राप्त कर चुका है, वह अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करता है। यहाँ पर भगवान ने एक निश्चित लक्ष्य भी दे दिया है कि कर्म में तुम अपनी पूरी जी-जान लगा दो। कर्म को मत त्यागो, कर्म को करते रहो, लेकिन उस कर्म में आत्मशुद्धि का प्रयोजन भी जोड़ दो।

आत्मशुद्धि का तात्पर्य यह कि हम किसी चीज पर प्रतिक्रिया व्यक्त न करें। सामान्य रूप से व्यक्ति हर क्रिया का जवाब किसी प्रतिक्रिया से देता है। लेकिन अगर हमारे द्वारा प्रतिक्रिया न हो तो इसका मतलब अन्तःकरण की शुद्धि हो गयी है। आखिर अन्तःकरण के किसी क्षेत्र में चोट पहुँचने पर ही तो प्रतिक्रिया होगी न? अन्तःकरण में चोट कहाँ लगने वाली है? या तो मन में, या बुद्धि में, या अहंकार में, या फिर चित्त में। इन चारों के समूह को ही अन्तःकरण कहा गया है। अन्तःकरण की शुद्धि के लिए स्वयं को कर्मों की प्रतिक्रिया से मुक्त करो। अगर कोई गाली दे तो विचलित नहीं होना और अगर कोई अच्छे शब्द कहे, तो मन में सुख की उत्तेजना का अनुभव मत करना। जब तुम अपनी प्रतिक्रिया को रोक पाओगे, तब वह तुम्हारे भीतर की नकारात्मक ऊर्जा को नहीं निकालेगी। किसी ने थप्पड़ मारा तो उसे भी दो मुक्के मार देना, यह एक नकारात्मक अभिव्यक्ति हो गई। जब वह नहीं होगी, तब आत्मशुद्धि की स्थिति आएगी।

प्रतिक्रिया का मतलब या तो तुम क्रोध से पीड़ित हो गये हो या फिर भय से। यदि कोई हट्टा-कट्टा, लम्बा-चौड़ा व्यक्ति लड़ने के लिए सामने आ जाए तो भय की प्रतिक्रिया होगी। यदि कोई दुबला-पतला, नाटा-कमजोर व्यक्ति लड़ने के लिए सामने आ जाए तो क्रोध की प्रतिक्रिया होगी। भय और क्रोध, ये दो ही प्रतिक्रिया में प्रकट होते हैं। इसलिए प्रतिक्रिया को नियंत्रण में करो। प्रतिक्रिया के बारे में कृष्ण जी आगे बहुत सुन्दर बात कहते हैं–

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥5.23॥



वे कहते हैं कि अगर तुम इस शरीर में रहते हुए भी काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाते हो, तो योगी कहलाओगे। सामान्य रूप से व्यक्ति पर जब कोई मनोवस्था आरूढ़ हो जाती है, तभी उसे ख्याल आता है। जब एक मनोस्थिति आ जाती है तब उसे आभास होता है कि मुझ में भय है या क्रोध। यहाँ पर श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि काम और क्रोध के परिणामों के प्रकट होने से पहले ही तुम उन्हें नियंत्रित कर लो, क्योंकि एक बार वे प्रकट हो जाते हैं, तब शरीर और मन के संतुलन एवं शान्ति का पूर्णतया नाश हो जाता है।

प्राणायाम-आधारित ध्यान

अब अर्जुन पूछता है कि भगवन्, हम पहले से कैसे जानेंगे कि काम, क्रोध, भय, आदि प्रतिक्रियाएँ हमारे भीतर उत्पन्न होंगी? भगवान कहते हैं, 'बहुत सरल है। ध्यान के द्वारा यह सम्भव है।'

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो: ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥5.27॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण: ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य: सदा मुक्त एव स: ॥5.28॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि विषय-भोगों को मन से बाहर निकाल कर, नेत्रों की दृष्टि को भृकुटि के बीच स्थित कर, वहाँ पर अपने ध्यान को लगाकर, नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके इन्द्रिय, मन और बुद्धि को जीता जा सकता है। जो ऐसा करता है, वह मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो जाता है।

पहले श्रीकृष्ण ने प्रत्याहार की साधना बतलायी थी – इन्द्रियों को बाहर से अन्दर खींचो। अब दूसरी साधना ध्यान की बता रहे हैं। वे कहते हैं कि मन को विचारों से रिक्त कर दो। किसी विषय, किसी भोग के बारे में मत सोचो। अगर मन में कोई विचार है तो बाहर निकाल दो। मन को खाली कर दो। मानसिक शून्यता को प्राप्त करो। उसके बाद भौंहों के बीच में अपनी दृष्टि को केंद्रित कर दो। तत्पश्चात् प्राण और अपान वायु को सम करो। यहाँ पर प्राणायाम का अभ्यास बतलाया जा रहा है। अगर इतना कर सकते हो, तो पहले ही काम-क्रोध के वेग को रोकने में सफल हो जाओगे।

इस विधि को भ्रूमध्य दृष्टि ध्यान कहते हैं। योगशास्त्र में भी इस विधि के बारे में बहुत लिखा है। शान्तिपूर्वक बैठकर, मन को भ्रूमध्य में केंद्रित कर देना है। यदि वहाँ से ध्यान भागे, तो दो अंगुलियों को भृकुटि पर रख लेना है। जहाँ पर ये दो अंगुलियाँ भृकुटि का स्पर्श कर रहीं हैं, उस स्पर्श पर अपने मन को केंद्रित कर देना है। उसके बाद कहते हैं कि प्राण और अपान को समान करो।

सामान्य रूप से माना गया है कि श्वास अन्दर लेने की प्रक्रिया को प्राण कहते हैं और श्वास बाहर छोड़ने की प्रक्रिया को अपान। हमारे शरीर में पाँच प्रकार के प्राण माने गये हैं – प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। इन पाँच प्राणों में प्राण और अपान प्रमुख हैं। प्राण द्वारा शरीर का पोषण होता है और अपान द्वारा शरीर के विषाक्त तत्त्वों को निष्कासित किया जाता है। हृदय से कण्ठ तक का क्षेत्र प्राण का माना गया है, और नाभि से गुदाद्वार तक अपान का क्षेत्र है।

योग में कहा गया है कि जब श्वास अन्दर लो और श्वास छोड़ो, तब दोनों की लम्बाई में बराबरी होनी चाहिए। अगर पाँच सेकण्ड तक हम श्वास अन्दर लें, तो पाँच सेकण्ड तक श्वास बाहर छोड़ना है। साधना पद्धति में कहा जाता है कि श्वास पर इतना नियंत्रण होना चाहिए कि तुम एक गायत्री मंत्र को करते हुए श्वास को अन्दर लो। गायत्री मंत्र में

चौबीस मात्राएँ होती हैं। यदि एक मात्रा को एक सैकण्ड के बराबर माने तो चौबीस सैकण्ड तक तुम श्वास अन्दर खींचो और चौबीस सैकण्ड तक श्वास बाहर छोड़ो। हमने ऐसे साधकों को भी देखा है, जो एक मिनट में केवल एक ही श्वास लेते हैं। उनका चित्त बड़ा ही शान्त, सौम्य और मधुर स्वभाव वाला होता है, क्योंकि वे अपने मन की प्रतिक्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त किये रहते हैं।

यहाँ पर भगवान साधना के बारे में अर्जुन को जो विधि बतला रहे हैं कि नेत्रों की दृष्टि को भृकुटि के बीच में स्थित करके, नासिका से श्वास अन्दर और बाहर लो, वह नाड़ीशोधन प्राणायाम का ही तरीका है, जिसे आजकल लोग अनुलोम-विलोम प्राणायाम कहते हैं। एक नासिका से श्वास लो, दस सेकण्ड तक खींचो, दूसरी नासिका खोलो और श्वास को दस सेकण्ड के लिए छोड़ो। इस प्रकार श्वास लेने और छोड़ने की प्रक्रिया को सम करने का प्रयास करो। जब इसमें सिद्धि मिल जाएगी, तब तुम अपने जीवन की हर प्रकार की प्रतिक्रिया को समाप्त कर सकते हो, रोक सकते हो।

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों ने भी इस बात को सिद्ध किया है कि जो लोग प्राणायाम करते हैं, उनके मस्तिष्क के भीतर उत्पन्न विद्युतीय ऊर्जा तरंगें, जिन्हें हम लोग बीटा, अल्फा, डेल्टा और थीटा तरंगों के नाम से जानते हैं, सम हो जाते हैं। सामान्य रूप से जब आँखें खुली रहती हैं, जब हम लोग बाजार में टहलते हैं या अपने कार्यालय में काम करते हैं, तब उस समय मस्तिष्क में बीटा तरंग की प्रधानता होती है। जाग्रत अवस्था में बीटा तरंग, विश्राम की स्थिति में अल्फा तरंग, एकाग्रता की स्थिति में थीटा तरंग और गहन निद्रा या गहरी समाधि की अवस्था में डेल्टा तरंग की प्रधानता रहती है।

प्राणायाम मस्तिष्क में उत्पन्न इन विद्युतीय तरंगों को सम करता है, जिसका असर मानसिक चंचलता पर पड़ता है। अनुसंधान ने इस चीज को साबित किया है। काम, क्रोध, राग, द्वेष, घृणा आदि के कारण जो भी आवेग भीतर उत्पन्न हो रहे हैं, वे वहीं रुक जाते हैं। यही चीज साढ़े पाँच हजार साल पहले कृष्ण जी ने अर्जुन को बताई थी कि प्राणायाम के द्वारा तुम अपने मन के भीतर उत्पन्न हो रही प्रतिक्रियाओं को शान्त कर सकते हो।

ध्यान योग

प्रातःकालीन सत्र, 18 फरवरी 2012

गीता के पाँचवे अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को बतलाते हैं कि जब कर्म से कर्तापन का त्याग हो जाता है, तो वह व्यक्ति संन्यासी कहलाता है। संन्यासी केवल अग्नि या अन्य क्रियाओं का त्याग नहीं करता। वह तो एक परम्परा है। लेकिन वास्तविक संन्यास की अवधारणा में कर्तापन का त्याग आवश्यक है। जब कर्मों से कर्तापन का त्याग होता है, तब कर्मयोग भी सिद्ध होता है। इसीलिए साधु-महात्मा अपने शिष्यों से कहते हैं कि आश्रम में रहकर बारह वर्षों तक गुरुसेवा करो, कर्म करो। सेवा और कर्म करते-करते जब तुम अपने आपको कर्मों से अलग कर पाओगे तब तुम संन्यास में, कर्मयोग में सिद्ध होगे।

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि आसक्ति, राग, भय और क्रोध का प्रेरक तत्त्व काम है। जब किसी विषय-वस्तु से जुड़कर मन में पागलपन का भूत सवार हो जाता है, तब उस अवस्था को काम कहते हैं। इस काम का अधिष्ठान इन्द्रियों, बुद्धि और मन में है। इसलिए काम को भी अपने नियंत्रण में लाने का प्रयास करना है। काम को नियंत्रण में लाने के लिए मानसिक, भावनात्मक और मस्तिष्क की स्नायविक उत्तेजना को शांत करना है, जिसके लिए भगवान एक विशिष्ट साधना पद्धति का वर्णन करते हैं।

प्राणायाम साधना

काम को वश में करने के लिए सबसे पहले विषयों और भोगों का चिन्तन मन से हटा दो। अपने नेत्रों को भृकुटि के बीच में स्थित कर दो। नासिका में विचरण करने वाले प्राण और अपान को सम करो। काम के पागलपन को कम

करने के लिए यह जो साधना भगवान अर्जुन को बतला रहे हैं, वह प्राणायाम का ही अभ्यास है, जिसकी शिक्षा योगशास्त्र में भी दी जाती है। दो अंगुलियों को भ्रूमध्य पर रखते हैं, जहाँ पर इन दो अंगुलियों का स्पर्श होता है, उस पर अपने ध्यान को केन्द्रित करते हैं। केवल आँखो को बन्द करके भी ध्यान किया जा सकता है, लेकिन मन भटकने की सम्भावना होती है। अगर भ्रूमध्य का अंगुलियों से स्पर्श करोगे तो चेतना उस स्थान पर निरन्तर बनी रहेगी और मन भटकेगा नहीं।

भ्रूमध्य पर ध्यान केन्द्रित करने के पश्चात् नासिका में विचरती हुई वायु को सम करना है। सामान्य रूप से जब हम लोग श्वास लेते हैं, तो कभी जल्दी से लेते हैं, और कभी धीरे से। व्यक्ति की श्वास कभी सम नहीं होती। जब मन में पागलपन का भूत सवार होता है, तब श्वास का वेग भी तीव्र हो जाता है। श्वसन प्रक्रिया जल्दी-जल्दी होने लगती है। यह उत्तेजना का, पागलपन का असर है।

प्राणायाम के इस अभ्यास में हम अंगूठे से एक नासिका को बन्द करते हैं और दूसरी नासिका से लंबी, गहरी श्वास लेते हैं। फिर अनामिका से दूसरी नासिका को बन्द करके पहली नासिका से श्वास छोड़ते हैं। दायीं नासिका से श्वास अन्दर, बाँयीं से श्वास बाहर। फिर बाँयीं से श्वास अन्दर, दायीं से श्वास बाहर। इस क्रिया को करते हुए श्वास की लम्बाई को, अवधि को बढ़ाना है।

यह श्वास शरीर में दो नाड़ियों के बीच प्रवाहित होता है। दायीं नासिका में बहता श्वास पिंगला नाड़ी में प्रवाहित हो रहा है, और बायीं नासिका का श्वास इड़ा नाड़ी में। जब पिंगला नाड़ी कार्यरत होती है, तब मन में उत्तेजना होती है। और जब इड़ा नाड़ी में प्रवाह प्रबल होता है, तब मन में शान्ति होती है। पिंगला नाड़ी प्राण के प्रवाह का प्रतीक है और इड़ा नाड़ी चित्त शक्ति के प्रवाह का।

उत्तेजना की अवस्था में प्राण शक्ति और चित्त शक्ति के सामान्य व्यवहार में विघ्न आ जाता है। अगर एक ऊर्जा बढ़ती है, तो दूसरी घटती है। इन दोनों में समता न रहने के कारण मनुष्य का मन विक्षिप्त, विचलित और चंचल होता है।

इसलिए यहाँ पर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि नासिका में प्रवाहित श्वास को सम करने का प्रयास करो। प्राणायाम पर हुए वैज्ञानिक शोध भी बतलाते हैं कि पागल लोगों के उपचार के लिए प्राणायाम का उपयोग हो



सकता है। बहुत-से पाश्चात्य देशों के अस्पतालों और पागलखानों में पागल मरीजों को प्राणायाम के माध्यम से ठीक करने का प्रयास भी किया जा रहा है। यह मैं केवल उदाहरण के रूप में यहाँ बतला रहा हूँ ताकि आप लोग प्राणायाम के महत्त्व से अवगत हो सकें।

ध्यान की साधना

काम वासना की उत्तेजना को कम करने के लिए भगवान ने पाँचवे अध्याय में प्राणायाम की साधना का निर्देश देकर, इसके बाद छठे अध्याय में एक और साधना बतलायी है –

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥6.10॥

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित तथा संग्रहरहित योगी, अकेला एकांत स्थान में स्थित होकर अपने चित्त को परमात्मा में लगा दे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥6.11॥

शुद्ध भूमि पर, जिसके ऊपर कुश का आसन या मृगछाल या वस्त्र का आसन बिछा हुआ है, ऐसा स्थान जो ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ नहीं है, वहाँ पर अपने आसन को जमाओ।

तत्रैकाग्रं मन: कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय:।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥6.12॥

उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखकर मन को एकाग्र करके, अन्त:करण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करो।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर:।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥6.13॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित:।
मन: संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर: ॥6.14॥

शरीर, सिर और गले को समान, अचल और स्थिर करके अपनी नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर, किसी अन्य चीज को न देखते हुए, मन को भय से मुक्त करके, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर और अन्त:करण की चंचलता को शांत करके, सावधान योगी मन को रोककर, मेरे परायण होकर मुझमें चित्त लगा दे।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत:।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥6.16॥

यहाँ पर साधना के साथ भगवान यम-नियम और अनुशासन भी बतला रहे हैं। योग की साधना बहुत खाने वाले, बिल्कुल न खाने वाले, बहुत शयन करने वाले और बिल्कुल न सोने वाले, इनमें से किसी को सिद्ध नहीं होती। मतलब जो अति करते हैं उनसे योग सिद्ध नहीं होगा। इसलिए योग को सिद्ध करने के लिए आहार और निद्रा पर संयम की आवश्यकता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा ॥6.17॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि दु:खों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले और यथायोग्य

सोने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है। ध्यान की साधना का निर्देश देते हुए भगवान ने कहा है कि सबसे पहले एक अच्छे स्थान का चयन करके, उसपर अपना आसन बिछा कर बैठ जाओ और ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करो। ब्रह्मचर्य का मतलब होता है मन में ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन। आसन पर शांतिपूर्वक बैठकर ईश्वर का चिन्तन-स्मरण करते हुए, भयरहित होकर नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को जमाओ। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाने को योगशास्त्र में नासिकाग्र मुद्रा कहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने मन को नासिका के अग्र भाग में केन्द्रित करके ईश्वर का चिन्तन करो। ईश्वर-चिन्तन का क्या मतलब होता है?

नाम और रूप स्मरण

शास्त्रों में ईश्वर-चिन्तन के जो उपाय बताए गए हैं, उनमें से एक है नाम और दूसरा है रूप। नाम को ही मंत्र कहते हैं, और रूप को मण्डल। हम अपने मन में ईश्वर की छवि को नाम और रूप के माध्यम से ही धारण कर पाते हैं। इन दो तरीकों से हम अपनी चेतना को ईश्वर से जोड़ सकते हैं।

जब मनुष्य मंत्र साधना करता है, तब उसके मन से भय का नाश होता है और वह शांत अंत:करण को प्राप्त करता हैं। जब तक मंत्र की साधना हो रही है, तब तक मनुष्य का मन ईश्वर से जुड़ा रहता है। मतलब उसे ईश्वर का ख्याल बना रहता है। ईश्वर का जो स्मरण है, वह सहज होना चाहिए, उसमें जोर-जबरदस्ती या परेशानी नहीं होनी चाहिए।

जब बेटा दूर देश में पढ़ने के लिए जाता है, तब माता-पिता हमेशा उसी का चिन्तन करते रहते हैं। बेटा अभी पढ़ाई कर रहा होगा, अभी खा रहा होगा, अभी सो रहा होगा, अभी यह कर रहा होगा, अभी वह कर रहा होगा। हर माता-पिता को यह ख्याल आता है। लेकिन ख्याल आते हुए भी माता अपना सब काम करती रहती है। वह अपना काम-काज नहीं छोड़ती, बल्कि जीवन के सभी व्यवहारों को करते हुए अपनी संतान की स्मृति को मन में संजोकर रखती है।

वैसा ही भाव तुम्हें ईश्वर के सम्बन्ध में लाना है। कोई भी काम करो, लेकिन ईश्वर की स्मृति को अपने मन में संजोकर रखो। नाम और रूप ही ईश्वर की स्मृति को अपने मन में स्थापित करने के तरीके हैं। या तो मंत्र बोलो या फिर भगवान की छवि को अपने मानस पटल पर उतारो और उसपर अपना ध्यान केन्द्रित करो।



मंत्र की परिभाषा है– *'मननात् त्रायते इति मंत्रः'*। जो मन को बंधन से मुक्त कर दे, उस शक्ति को मंत्र कहते हैं। जब मन भोग-विषयों में बंधता है, तब कुछ समय तक मन को विश्राम देने के लिए, भोग-विषयों से मुक्ति के लिए योग में मंत्र की साधना निर्देशित की गई है। भारतीय परम्परा में तो यह भी कहा जाता है कि प्रातःकाल और रात्रि को सोने के पूर्व, हर व्यक्ति को पाँच मिनट बैठकर मंत्र का ख्याल करना चाहिए, जप करना चाहिए, ध्यान करना चाहिए। सबेरे उठते ही सबसे पहले ईश्वर का चिन्तन, ईश्वर की आराधना होनी है। दिन के अंत में जब सोते हो तब भी ईश्वर का स्मरण, ईश्वर का ख्याल होना है। लेकिन हम लोग प्रायः ऐसा नहीं करते। सबेरे उठते ही हमारा ध्यान सीधे संसार से जुड़ता है।

घरों में परम्परा है कि एक किनारे में एक छोटा-सा मन्दिर बना देते हैं और प्रातःकाल वहाँ पर धूप-दीप-अगरबत्ती जला देते हैं, फूल अर्पित कर देते हैं और एक-आध पाठ पढ़ लेते हैं। लोग इसे एक धार्मिक परम्परा मानते हैं, लेकिन हम ऐसा नहीं मानते। यह जीवन का एक व्यवहार है, जिसे अपनाना सबके लिए जरूरी है। सबेरे जब व्यक्ति की नींद खुलती है, उस समय मन तुरन्त जाग्रत अवस्था को नहीं प्राप्त करता। जब तक हम नहा-धोकर अपने आप को तैयार नहीं कर लेते, तब तक हम अर्द्धचेतन अवस्था में रहते हैं। उस अर्द्धचेतन अवस्था में अगर मंत्र किया जाए या एक अच्छा

संकल्प लिया जाए, तो वह संकल्प हमारे अवचेतन मन में प्रवेश करके, उसके व्यवहार को सकारात्मक और सात्त्विक बनाता है। फिर हमारा मन एक सकारात्मक ऊर्जा से युक्त होकर, दिनभर की समस्याओं से संघर्ष करने के लिए तैयार हो जाता है।

दिनभर संघर्ष करके रात को सोने के पूर्व, पुन: ईश्वर का चिन्तन करके, मंत्र का जप करके, ईश्वर की छवि पर अपने ध्यान को केन्द्रित करके, मन को तनाव मुक्त करके व्यक्ति निश्चिन्त होकर सो सकता है। नहीं तो चिंता और परेशानी मनुष्य के मन को व्यथित कर देती है और उसकी नींद हराम हो जाती है।

स्वस्थ जीवन की क्या पहचान है? खाने में लक्कड़ हजम, पत्थर हजम और रात को सोते समय तकिये पर सिर रखते ही नींद का आ जाना। बहुत-से लोग बिस्तर पर घण्टों करवट बदलते रहते हैं, नींद ही नहीं आती। जो व्यक्ति रात को देर तक सो नहीं पाता, उसे यह मालूम होना चाहिए कि वह मनोरोग से पीड़ित है, मानसिक रूप से अस्वस्थ है। बिस्तर में सिर रखते ही नींद का आना हमारे यहाँ मानसिक स्वास्थ्य की निशानी मानी गयी है। इस लक्षण से पता चलता है कि मन चिंताओं और तनावों से मुक्त है। जैसे ही मन शांत होता है, नींद आ जाती है।

ईश्वर का स्मरण, मंत्र का जप, ये मन को तनावमुक्त करने और साथ ही मन को ऊर्जायुक्त करने के बहुत ही सुन्दर उपाय हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण यहाँ पर कह रहे हैं कि शरीर को अचल बना कर, नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि जमाकर, इधर-उधर कहीं न देखते हुए, मंत्र या रूप को माध्यम बनाकर अपने मन को मुझमें लगा दो। जब इस प्रकार की स्थिति आ जाती है, तब क्या होता है?

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मन: ॥6.19॥

भगवान कहते हैं कि जब इस प्रकार की मनोवस्था प्राप्त कर लोगे, तब तुम्हारे चित्त की वैसी ही स्थिति होगी, जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक। उसकी लौ चलायमान नहीं होती, स्थिर रहती है। राग-द्वेष से मुक्त हुआ मन, जिस पर विषयों का प्रभाव नहीं है, वह भी एकदम स्थिर हो जाता है। कोई भी विषय उसे हिला नहीं पाता। ऐसा शांत मन परमात्मा में स्थिर हो जाता है।

परा और अपरा प्रकृति

अभी तक अर्जुन ने भगवान से प्रत्याहार, प्राणायाम और मंत्र की साधना का निर्देश सुना है। अब वह भगवान से जानना चाहता है कि जब जीव इस संसार में आता है तब उसकी अभिव्यक्ति का, उसके व्यापार का क्या दायरा रहता है। वह जीव किस प्रकार इस संसार में आकर एक सीमा में बंधकर व्यापार करता है? भगवान उत्तर देते हैं कि जब आत्मा इस संसार में जन्म लेती है तब वह आठ प्रकार की प्रकृति द्वारा मोहित होती है –

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥7.4॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥7.5॥

भगवान कहते हैं कि जब जीव इस धरती पर आता है, तब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार – यही उसके जीने, भ्रमण करने और व्यापार करने का क्षेत्र हो जाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश – ये पाँच भौतिक तत्त्व हुए और मन, बुद्धि एवं अहंकार तीन सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार आठ प्रकार से विभाजित यह जड़ प्रकृति है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी प्रकृति भी है, जिसने इस सम्पूर्ण जगत् को धारण किया है। वह परा प्रकृति है, चेतन प्रकृति है।

जड़ प्रकृति अष्टधा या अपरा प्रकृति के नाम से भी जानी जाती है। इस धरती पर मनुष्य का सम्बन्ध इसी जड़ प्रकृति से होता है। जड़ प्रकृति के साथ व्यापार मन एवं इन्द्रियों द्वारा होता है। जड़ता का मतलब जहाँ पर एक सम्भावना प्रकट हो चुकी है, एक स्थिति को प्राप्त कर लिया है। परा प्रकृति में जड़ता नहीं है, वह चैतन्य है, हर प्रकार की सम्भावनाओं से युक्त है।

जब आप मिट्टी से एक पात्र बनाते हो, तब मिट्टी उस पात्र का रूप लेकर जड़ हो जाती है, क्योंकि उसे एक रूप, एक आकार प्राप्त हो गया है। लेकिन जब तक मिट्टी को पात्र का आकार प्राप्त नहीं हुआ, तब तक जड़ नहीं कहलाएगी, क्योंकि उसके मूल रूप में अनेक प्रकार के पात्र बनने की सम्भावनाएँ हैं।

उसी तरह ईश्वर की शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। एक है जड़, जो संसार में पंच महाभूतों और मन-बुद्धि-अहंकार के रूप में दिखलाई देती है,

और मनुष्य को एक व्यवहार में बांध देती है, मनुष्य को एक रूप, एक आकार प्रदान करती है। और दूसरी अभिव्यक्ति है चेतन, जो इस सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान है। वह प्रकृति, वह ऊर्जा, वह शक्ति ईश्वर के साथ है। भगवान आगे कहते हैं–

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता: ॥7.15॥

जो प्राणी जड़ प्रकृति में अवस्थित हैं, उनका ज्ञान माया के द्वारा हरण किया जा चुका है। जिनका ज्ञान माया के द्वारा हरा गया है, ऐसे आसुर-स्वभाव को धारण किए हुए नीच, दूषित कर्म करने वाले, मूढ़ लोग मुझ से अलग रहना चाहते हैं।

यहाँ पर भगवान बतला रहे हैं कि जो अष्टधा प्रकृति है, जिसके अन्तर्गत हम सब आते हैं, उस प्रकृति का दूसरा नाम है माया। माया द्वारा जिसके ज्ञान का अपहरण हुआ है, और ज्ञान के अपहरण के पश्चात् जीवन में आसुरी वृत्तियाँ प्रवेश कर गई हैं, ऐसा व्यक्ति मुझ से दूर होता जाता है।

जड़ प्रकृति है माया और परा प्रकृति है योग। इसीलिए भगवान की आदि शक्ति को हम लोग योगमाया कहते हैं। योग भगवान से मनुष्य का सम्बन्ध बनाती है और माया भगवान से मनुष्य की दूरी बढ़ाती है। योगमाया नाम में ये दोनों चीजें दिखलाई दे रही हैं–ईश्वर के समीप लाने और ईश्वर से अलग करने की क्षमता। जो मनुष्य इस संसार में आता है, जड़ प्रकृति में जीता है, वह माया के वश में होकर भगवान से, योग से दूर होता है। और जो साधक माया से अपने आप को मुक्त करके धीरे-धीरे योगावस्था को प्राप्त करता है, वह ईश्वर के नजदीक आता है।

भक्तों का वर्गीकरण

अर्जुन पूछता है कि भगवन्, किस प्रकार के लोग आप के नजदीक आते हैं और किस प्रकार के लोग आपसे विमुख होते हैं। भगवान अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं–

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥7.16॥

अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी–ये चार प्रकार के उत्तम कर्म करने वाले भक्त मेरे समीप आने का प्रयास करते हैं। यहाँ पर एक बहुत सुन्दर बात कही गई है। जो व्यक्ति माया में ग्रस्त होकर मुझसे दूर होता है, वह कभी उत्तम कर्म नहीं करता। उससे हमेशा कुकर्म ही होते हैं। लेकिन उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी मुझे प्राप्त करते हैं।

इस श्लोक की व्याख्या में अक्सर लोग कहते हैं कि अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी, सब तरह के साधकों को ईश्वर की कृपा पाने का अधिकार है। लेकिन अगर इसके पहले वाले श्लोक पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होता है कि इसके लिए भी एक शर्त्त है। चाहे साधक अर्थार्थी हो, या आर्त, जिज्ञासु अथवा मुमुक्षु, उसका आचरण उत्तम होना है। अगर कर्म उत्तम नहीं हैं तो भी भगवान से दूरी बनी रहेगी। व्यक्ति के दूषित कर्म उसे ईश्वर के समीप नहीं आने देंगे।

इसलिए भगवान कहते हैं कि उत्तम कर्म करने वाला अर्थार्थी, उत्तम कर्म करने वाला आर्त, उत्तम कर्म करने वाला जिज्ञासु और उत्तम कर्म करने वाला ज्ञानी ही मुझे प्राप्त करता है। यहाँ पर उत्तम कर्म पर जोर देकर वे इस विचारधारा को बल प्रदान कर रहे हैं कि हमेशा सद्विचार, सद्व्यवहार और सत्कर्म से युक्त रहो। अर्थार्थी भक्त की कोई-न-कोई कामना रहती है। चाहे वह कामना धन की हो या संतान, नाम अथवा यश की, उत्तम कर्म करते हुए वह ईश्वर की आराधना कर सकता है और ईश्वर से वरदान प्राप्त कर सकता है कि उसकी मनोकामना पूरी हो, जीवन सुखमय हो। एक ज्ञानी भी, जिसकी संसार के विषयों मे कोई रुचि नहीं, जो केवल ईश्वर-साक्षात्कार करना चाहता है, उत्तम कर्म करके ईश्वर को प्राप्त हो सकता है। उत्तम कर्म करके धन भी माँग सकते हो और मोक्ष भी। उत्तम कर्म करके अपनी जिज्ञासा का समाधान भी माँग सकते हो और दुःखों से निवृत्ति भी। वह सब तुम्हें निश्चित रूप से प्राप्त होगा। लेकिन अगर कर्म उत्तम नहीं हैं तो ज्ञानी भी ईश्वर को नहीं प्राप्त कर पाएगा।

श्रीकृष्ण ने यहाँ जिन चार प्रकार के मनुष्यों की चर्चा की है, उन्हें चाहे आप भक्त कहो या साधक, कोई अन्तर नहीं पड़ता। सामान्य रूप से लोग सोचते हैं कि भक्त केवल भजन करता है और साधक केवल ध्यान। यह गलतफहमी है। भक्ति और साधना, ये एक ही चीज के दो नाम हैं। भक्त भी साधक है, क्योंकि वह अपने भीतर की संकीर्ण अवस्थाओं से स्वयं को



निकालकर ईश्वर में स्थित करना चाह रहा है। साधक भी भक्त होता है क्योंकि वह अपनी साधना के परिश्रम से अपने आप को ईश्वर से जोड़ना चाह रहा है। इसलिए भक्त और साधक में अन्तर नहीं करना।

प्रणव साधना

भगवाम श्रीकृष्ण आगे आठवें अध्याय में अर्जुन को ध्यान की एक ओर विधि बताते हैं, जिसे हमारे शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है, जिसकी व्याख्या वेदों, उपनिषदों और स्मृतियों में भी की गई है। इस विधि का नाम है प्रणव ध्यान। श्रीकृष्ण कहते हैं –

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मन: प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥8.12॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥8.13॥

सब इन्द्रियों के दरवाजों को बन्द करके और मन को हृदय में स्थिर करके, फिर मन के द्वारा प्राण को मस्तिष्क में स्थापित करके, योगधारणा में स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म का उच्चारण करते हुए और मुझ निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

यहाँ पर भगवान कहते हैं कि सबसे पहले इन्द्रियों के सभी दरवाजों को बन्द कर दो। इसका मतलब यह कि इन्द्रियों द्वारा प्रेषित कोई भी जानकारी तुम्हारे मन को विचलित न करे। फिर मन को हृदय में स्थित कर दो। इस शरीर में भगवान का वास कहाँ होता हैं? श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है –

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।

अर्थात् हृदय में अंगूठे के नाप के बराबर ईश्वर की अनुभूति छिपी रहती है। वही हमारी अन्तरात्मा है। इसलिए हृदय में अपने मन को स्थित करो। जब हृदय स्थित ईश्वर के रूप में तुम्हारा मन एकाग्र हो जाता है, तब प्राणों को ऊर्ध्वगामी बनाकर अपने मस्तिष्क में स्थापित करो और प्रणव का, ॐ मंत्र का उचारण करो।

यहाँ पर अब भगवान प्रत्याहार, प्राणायाम या मंत्र-जप नहीं, ध्यान की अवस्था और अभ्यास समझा रहे हैं। अपने आप को संसार से एकदम अलग कर दो। इन्द्रियों से कोई भी सम्प्रेषण न हो। यह मानकर चलो कि न तो मैं शरीर हूँ और न ही शरीर से जुड़ा कोई अनुभव। अपने आप से कहो, 'मैं मन भी नहीं हूँ और न मन से जुड़ा हुआ कोई अनुभव हूँ।' इस तरह अपनी मानसिक सजगता का शरीर और मन के व्यवहारों से सम्बन्ध-विच्छेद कर दो और हृदय में परमेश्वर की धारणा करते हुए, ॐ मंत्र का जप करो। अगर ऐसा करते हुए शरीर का, प्राणों का त्याग भी हो जाता है, तो भी मनुष्य परमगति को प्राप्त करता है।

श्री स्वामीजी की महासमाधि

इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण ने ध्यान और समाधि का संकेत दिया है। इतिहास में वर्णन आता है कि साधु-महात्मा ध्यान लगाकर अपने प्राणों को ऊपर खींचकर, ॐ का उच्चारण करते हुए प्राणों का त्याग करते हैं। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। यह चीज लोग इतिहास में पढ़ते हैं, लेकिन हमने अपने

गुरुजी के जीवन में प्रत्यक्ष देखा है कि वे किस प्रकार महासमाधि में लीन हुए। सामान्य रूप से लोग, चाहे वे संत-महात्मा या साधु-संन्यासी क्यों न हों, अंतसमय में अस्पताल में भर्ती होते हैं। नाक में ट्यूब घुसे रहते हैं, भुजा में सुई घुसी रहती है, शरीर को जीवित रखने के लिए खून की बोतल-पर-बोतल चढ़ाई जाती है। अस्पताल में ही नब्बे-पिचानवे प्रतिशत लोग, *'हरि: ॐ तत्सत्'* कह देते हैं।

लेकिन हमने अपने गुरुजी के जीवन में इन्हीं श्लोकों को चरितार्थ होते देखा। जब गुरुजी की महासमाधि का समय समीप आया तो उन्होंने कहा, 'मुझे आज और अभी जाना है। अभी मुर्हूत है, कल के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी है।' यह कहकर वे पद्मासन में बैठ गए। उन्होंने गुरुमंत्र का जप किया, फिर आँखें खोलकर हाथों को जोड़कर भगवान से प्रार्थना की, 'मैं तैयार हूँ, मुझे ले जाओ।' फिर अपने हाथों से अपने मुँह में तुलसी दल और गंगा जल धारण किया। इसके बाद वे ध्यान में बैठे, तीन बार ॐ मंत्र का उच्चारण किया और प्राणों को ऊपर लाकर, ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकाल दिया। यह ध्यान की, समाधि की सिद्धि है, जिसमें मनुष्य अपनी आत्मा की ऊर्जा पर इतना नियंत्रण प्राप्त कर लेता है कि आत्मा उसके कहे अनुसार या तो शरीर से बाहर निकलती है या फिर शरीर में प्रवेश करती है।

बहुत से संत-महात्मा अस्पताल में महीनों तक चीखते-चिल्लाते, रोते-बिलखते चेलों के बीच अपने प्राण त्यागते हैं। लेकिन योगारूढ़ योगी शांतिपूर्वक ध्यान लगाकर अपने प्राणों को ऊपर खींचते हैं और अपनी आत्मा को परमात्मा से एकाकार कर देते हैं। यह प्रणव साधना है। इस प्रणव साधना से तुम ध्यान की अंतिम अवस्था को भी प्राप्त कर सकते हो, और महासमाधि को भी। इसलिए इसे भारतीय दर्शन में सर्वश्रेष्ठ साधना माना गया है।

गीता एक ऐसा ग्रंथ है जिसे अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है, जिसका अनेक स्तरों पर विश्लेषण किया जा सकता है। इस सत्संग श्रृंखला में हमारा प्रयास रहा है कि भगवान ने अर्जुन को विषादमुक्त करने के लिए जिन योग साधनाओं पर प्रकाश डाला है, हम उन साधनाओं की यहाँ पर चर्चा करें। और इस क्रम में अभी तक भगवान ने अर्जुन को प्रत्याहार, प्राणायाम, मंत्र साधना और ॐ की साधना के बारे में बतलाया है।

गीता का सारांश

अपराह्नकालीन सत्र, 18 फरवरी 2012

गीता की शिक्षा युद्धभूमि में आरम्भ होती है और युद्धभूमि में ही समाप्त होती है। गीता के पहले अध्याय में अर्जुन की अवस्था का वर्णन आता है कि किस प्रकार से उसका शरीर काँप रहा था, शक्तिहीन हो रहा था। वह अपने आयुधों को भी हाथों में नहीं पकड़ पा रहा था, आँखों के सामने अंधेरा छा गया था। शरीर से पसीना छूट रहा था, मति भ्रमित हो गई थी। अपने बंधु-बांधवों को सामने युद्ध के लिए तैयार देख वह शोकग्रस्त हो गया था।

अर्जुन तो एक श्रेष्ठ योद्धा था। उसने अपने जीवन में अनेकों बार रणभूमि में रथियों-महारथियों को परास्त किया था। पहले तो वह कभी शोकग्रस्त नहीं हुआ, फिर यहीं पर क्यों हुआ? इसका कारण स्पष्ट है। पहले जिन लोगों से अर्जुन ने युद्ध किया था, वे उसके स्वजन नहीं, अज्ञात लोग थे। उसके सामने शत्रु रूप में अजनबी राजा आए थे जिनके साथ अर्जुन का कोई भावनात्मक सम्बन्ध नहीं था। लेकिन जब अर्जुन युद्धक्षेत्र में अपने ही लोगों को युद्ध के लिए तैनात खड़ा देखता है, तब उसका मन शोकग्रस्त हो जाता है।

आसक्ति और राग

श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हैं कि तुम्हें जो शोक और विषाद हो रहा है, उसका कारण कुछ और नहीं, तुम्हारी आसक्ति ही है। अगर तुममें यह आसक्ति नहीं होती, तो तुम निश्चित रूप से युद्ध करते। जब तुमने अन्य योद्धाओं के साथ लड़ाई की थी, तब तुम्हारा कोई सम्बन्ध, कोई आसक्ति नहीं थी। तुम निश्चिंत होकर उनके साथ लड़े। पर यहाँ पर अपने स्वजनों से जो मोह और



आसक्ति है, उसके कारण तुम कंपित हो रहे हो, भयभीत हो रहे हो और युद्ध न करने की इच्छा प्रकट कर रहे हो।

फिर भगवान अर्जुन को बताते हैं कि आसक्ति की उत्पत्ति राग से होती है। विषय के प्रति आकर्षण ही राग है। उस आकर्षण का एक ही प्रयोजन है, मैं किसी प्रकार से सुख को प्राप्त करूँ। मनुष्य मनोरंजन के पीछे क्यों भागता है? सिनेमा क्यों जाता है? टेलीविजन के सामने घण्टों आँखें फाड़े क्यों बैठा रहता है? पार्टी वगैरह क्यों जाता है? क्योंकि उसके मन में एक अपेक्षा रहती है कि यह सब करने से मेरे मन को सुख-संतोष मिलेगा। घर बैठे रहने में क्या सुख-संतोष है, यही सोचकर आदमी विषयों के पीछे भागता है।

सुख के लिए विषयों के पीछे भागना ही राग है, जिससे आसक्ति की उत्पत्ति होती है। राग और आसक्ति दोनों मिलकर भय और क्रोध को भी जन्म देते हैं, क्योंकि जब मन में राग की उत्पत्ति होती है, तब उस समय मन के भीतर एक कामना, एक इच्छा, एक वासना भी प्रकट होती है। अगर तुम उस इच्छा को पूरा करने का प्रयास करोगे, तो राग और आसक्ति का बंधन और प्रबल होगा। जब मन में राग और आसक्ति का वास होगा, तब तुम किसी भी क्षण किसी भी कारण से भयभीत हो सकते हो। जीवन में किसी प्रकार के अभाव से, असुरक्षा की भावना से तुम घबरा सकते हो, विचलित हो सकते हो, व्यथित हो सकते हो। कामना के पूर्ण न होने पर हो सकता है तुम उत्तेजित और क्रोधित भी हो जाओ।

श्रीमद्भगवद् गीता में कृष्ण जी ने अर्जुन की समस्या के समाधान के लिए कुछ विशेष बिन्दुओं को ही सामने रखा है और इन्हीं बिन्दुओं को अलग-अलग तरीके से समझाया है। इनमें मूल बिन्दु यही है कि अगर जीवन में कभी दु:ख, शोक, अशान्ति, विषाद या मोह होता है, तो उनके पीछे आसक्ति, राग, भय और आक्रोश के अलावा और कोई कारण नहीं। आसक्ति, राग, भय और आक्रोश मन को प्रभावित करते हैं। एक बार मन प्रभावित हो जाए, तो अवसाद की स्थिति में चला जाएगा, जिससे किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की स्थिति आएगी। क्या करूँ, क्या नहीं करूँ? बुद्धि भ्रमित हो जाएगी, मन विचलित हो जाएगा। अर्जुन का यही हाल हुआ था।

जब अर्जुन के मन में अवसाद की स्थिति आ गई, तब उसका असर शरीर पर भी पड़ा, जिसके कारण उसने स्नायविक दुर्बलता का अनुभव किया। स्नायविक दुर्बलता के कारण कर्म करने की इच्छा समाप्त हो गई। 'मैं युद्ध नहीं करूँगा, मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा, मेरा शरीर कमजोर हो रहा है, मेरे हाथ से धनुष गिर रहा है, मैं अपने अस्त्रों को नहीं पकड़ पा रहा हूँ' – ये स्नायविक दुर्बलता के लक्षण हैं।

अर्जुन को ठीक करने के लिए भगवान को दो उपाय सोचने पड़ते हैं। पहला, किस प्रकार उसकी इन्द्रियों को सक्रिय किया जाए ताकि उसकी स्नायविक और शारीरिक दुर्बलता दूर हो जाए और दूसरा, किस प्रकार उसके मन को संतुलित किया जाए ताकि वह पुन: अपने धर्म और कर्त्तव्य को जानकर उसका पालन कर सके। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन के अलग-अलग प्रश्नों का समाधान करते हुए इन्हीं विचारों को स्पष्ट करते हैं।

शारीरिक सक्रियता के लिए कर्मों में प्रवृत्ति

शारीरिक इन्द्रियों को सक्रिय करने के लिए दो चीजों की आवश्यकता होती है, एक कर्म और दूसरा अभ्यास। अगर ये नहीं करोगे, तो शरीर की स्थिति बिगड़ेगी, शरीर अस्वस्थता को प्राप्त करेगा। एक सप्ताह स्वयं को कमरे में बंद करके बैठ जाओ। जब एक सप्ताह के बाद बाहर निकलोगे, तब चलने में कठिनाई होगी, क्योंकि चलने का अभ्यास नहीं रहा। अगर चार दिन तक आदमी बिस्तर पकड़ लेता है, तो पाँचवे दिन खड़े होने में दिक्कत होती है, चक्कर आता है, पैर लड़खड़ा जाते हैं। अगर पन्द्रह दिन के लिए कोई अस्पताल में रह जाए, तो उसे सहारा देकर चलाना पड़ता है। इसलिये शरीर का सक्रिय रहना, कर्मों में रत रहना अत्यन्त आवश्यक है।

इसलिए कृष्ण जी अर्जुन को दूसरे अध्याय से बार-बार कहना आरम्भ करते हैं कि कर्म करते जाओ, कर्म मत छोड़ो। दूसरे अध्याय से नवें अध्याय तक श्रीकृष्ण अर्जुन को कुछ-न-कुछ बात समझाकर बार-बार प्रेरणा देते हैं कि अब तुम कर्म करो, अपना कर्त्तव्य निभाओ, अपने धर्म का पालन करो। अर्जुन को कर्म में संलग्न होने के लिए बार-बार प्रोत्साहित करते हैं– 'अपने धर्म से विमुख मत होओ। वर्त्तमान परिस्थिति और परिवेश में जो तुम्हारा धर्म है, उसको जानो, उसके अनुसार कर्म को हमेशा करते रहो। तुम युद्धभूमि में युद्ध करने आए हो। यहाँ आकर कैसे कह सकते हो कि मैं लड़ाई नहीं करूँगा।' डॉक्टर अस्पताल जाकर कहे कि मैं उपचार नहीं करूँगा, यह कैसे सम्भव है? तुम जिस भी परिस्थिति में हो, उसमें जो भी कर्त्तव्य है, उसे धर्म और न्याय से जोड़कर करते जाओ।

अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा देते हुए भगवान बतलाते हैं कि जब मनुष्य कर्म करता है, तब उस कर्म से एक अपेक्षा जुड़ी रहती है। मनुष्य कर्म-फल की खोज करता है। उसका ध्यान कर्म से हटकर फल में टिक जाता है। इसलिए कर्म सिद्ध नहीं होता। अगर फल नहीं मिलता तो शोक और अगर फल मिलता है, तो कुछ क्षणों के लिए हर्ष होता है। उसके बाद फिर से वही संघर्ष शुरू हो जाता है। इसलिए कर्म को करते रहो, लेकिन कर्म से कोई अपेक्षा मत रखो, किसी परिणाम को मत खोजो।

जब कर्म से हमें कोई आशा नहीं रखनी है, कोई परिणाम नहीं खोजना है, तब कैसे कर्म किया जाए? भगवान कहते हैं कि पूरे मनोयोग से कर्म करो। उसे तुम जितना सृजनात्मक और रचनात्मक बना सकते हो, उतना बनाओ। तुम्हारे



द्वारा इस प्रकार किए गए अपेक्षारहित और आसक्तिरहित रचनात्मक कर्म तुम्हें संसार के बंधन से मुक्त करेंगे। अगर तुम कर्मों को स्वार्थपूर्ति के प्रयोजन से ही करते रहोगे तो कर्म तुम्हें बंधन में अवश्य डालेंगे।

इस प्रकार भगवान अर्जुन को आसक्तिरहित होकर कर्म करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, ताकि वह कर्मों में प्रवृत्त होकर शारीरिक और स्नायविक दुर्बलता से उबर सके।

मन का प्रबन्धन

अब बात आती है मन की, जो शोक और विषाद में पड़ा हुआ है। विषाद को दूर करने के लिए तुम्हारे मन में जो उथल-पुथल, जो चंचलता हो रही है, उसे शान्त करने का प्रयास करो। अपने मन को स्थिर बनाने का प्रयास करो। मन में जो इच्छा या कामना उत्पन्न हो रही है, उसे देखो। जो चीज अनिवार्य है उसे पाने का प्रयास करो। जो अनिवार्य नहीं है, मात्र एक महत्त्वाकांक्षा है, उसका त्याग करते जाओ। इस प्रकार अपनी कामनाओं को कम करो।

राग, भय और क्रोध को शान्त करने के लिए भगवान अर्जुन को योग की प्रत्याहार साधना की शिक्षा देते हैं। महर्षि पतंजलि ने अपनी योग चर्चा में राजयोग के जिन आठ अंगों के बारे में बतलाया है, उनमें प्रत्याहार पाँचवा अंग है। मन को राग, भय और आक्रोश के कुप्रभावों से मुक्त करने के लिए श्रीकृष्ण अर्जुन को इस योगांग की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि प्रत्याहार के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को विषयों से समेट लेने से इन्द्रियाँ तुम्हें व्यथित नहीं करेंगी।

योगदर्शन में भी प्रत्याहार का यही प्रयोजन है कि जब मन चंचल होता है, तब उसको शान्त और स्थिर करने के लिए कुछ समय के लिए समेट लो। शान्ति और स्थिरता प्राप्त करके पुनः संसार में संलग्न हो जाओ। प्रत्याहार में शरीर और इन्द्रियों की स्थिरता पर जोर देते हुए कहा जाता है कि चाहे पाँच



मिनट के लिए बैठो या आधे घण्टे के लिए, लेकिन स्थिर बैठो। शरीर में हलचल नहीं होनी चाहिए। अगर तुम्हारा शरीर स्थिर हो जाता है, तो इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाएँगी। इन्द्रियों के स्थिर होने से मस्तिष्क और मन का व्यापार भी शान्त हो जाएगा, जिसके कारण भय और आक्रोश समाप्त हो जाएगा। इसलिए प्रत्याहार की साधना करो और यह साधना करते हुए कर्मयोग भी करते जाओ। शरीर और इन्द्रियों को भी संभालो तथा मन और मानसिक अवस्था को भी संभाल कर चलो। मतलब कर्मयोग में संलग्नता और प्रत्याहार का अभ्यास, दोनों काम एक साथ करो।

कर्मयोग का मतलब है, कर्म को कर्त्तव्य रूप में करना। कर्म से आसक्ति हटाकर, विषयों से अनासक्त रहकर, इन्द्रियों को अपने वश में करके उनकी प्रतिभाओं का उपयोग करते हुए जो व्यक्ति कर्म करता है, कर्मयोगी कहलाता है। ऐसा व्यक्ति संतापरहित और ममतारहित हो जाता है, हर आशा से मुक्त हो जाता है।

अभ्यास और वैराग्य

इस मोड़ पर अर्जुन कहता है, 'भगवान! यह सब करने का प्रयास तो जरूर करूँगा, लेकिन चंचल मन को संभालना बड़ा मुश्किल है।' श्रीकृष्ण कहते हैं–

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥6.35॥

'हाँ अर्जुन! तुम बात तो ठीक कह रहे हो, लेकिन मन की इस चंचलता को दो तरीकों से संभाला जा सकता है। एक है अभ्यास और दूसरा है वैराग्य।' जब भगवान अभ्यास शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उनका आशय है कि अभ्यास द्वारा तुम इन्द्रियों को अपने काबू में रखोगे और कर्मों में रत रहोगे। और वैराग्य

से उनका आशय है कि वैराग्य द्वारा संसार के प्रति आकर्षण और प्रवृत्ति को संभाल सकते हो। वैराग्य राग का उल्टा होता है। वैराग्य का तात्पर्य त्याग से नहीं, जीवन में राग के अभाव से है। जब जीवन की भाग-दौड़ बंद हो जाती है और आन्तरिक स्थिरता आती है, तब वैराग्य अपने आप उत्पन्न होता है।

यह बात हम सब अपने जीवन में देख सकते हैं। जब हम लोग छोटे थे, तब छोटी-से-छोटी चीज को देखकर उसे पाने के लिए लालायित रहते थे। किसी भी खिलौने को देखकर उसे पाने के लिए मचलते थे। जो भी सुन्दर चीज दिखलाई देती थी, उसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। लेकिन एक समय आता है, जब इन सब चीजों को देखकर मन तृप्त हो जाता है। मन कहता है कि ये मेरे लिए आवश्यक नहीं हैं। बचपन में जिस वस्तु से हमें राग था, बड़े होने पर वह आकर्षण और राग कम हो गया, समाप्त हो गया। दूसरे विषयों ने हमारे मन पर स्वयं को आरोपित कर लिया।

इसलिए भगवान कहते हैं कि अपने रागों को देखो, उनका विश्लेषण करो, उनको समझो। किस राग से तुम्हें किस प्रकार की अपेक्षा है? एक बार तुम अपने राग को समझ लोगे, उसके कारण को समझ जाओगे, तब वैराग्य निश्चित रूप से हो जाएगा।

अभ्यास के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन को प्राणायाम के बारे में बतलाते हुए कहते हैं कि भावों के आवेश को संभालने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करो। अपनी दृष्टि को भ्रूमध्य पर केंद्रित करो। शरीर को स्थिर बनाओ। नासिका के भीतर जो वायु चल रही है, उसे सम करने का प्रयास करो। यहाँ पर प्राणायाम के सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा की गई है। मन को संभालने के लिए अभ्यास के रूप में भगवान ने प्रत्याहार और प्राणायाम की ओर संकेत किया है।

धारणा और ध्यान

छठे अध्याय में भगवान मंत्र साधना के बारे में बतलाते हैं। वे कहते हैं कि स्थिर बैठकर, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके अर्थात् ईश्वर का चिंतन करते हुए, अपनी दृष्टि को नासिकाग्र पर केंद्रित करके ईश्वर का स्मरण करो। ईश्वर का स्मरण मात्र दो तरीके से होता है। या तो उनका नाम लो या फिर उनके रूप का ख्याल करो।

नाम पहले आता है, क्योंकि मंत्र जप सबसे सरल उपाय है। उल्टा नाम लेकर भी वाल्मीकि तर गए। राम नहीं बोल पाए, पर मरा-मरा कहते-कहते

रत्नाकर से वाल्मीकि बन गये। जीवन में पशुत्व को समाप्त करके संतत्व को लाने के लिए नाम-स्मरण और मंत्र जप बहुत प्रभावी विधि है। दूसरी विधि है ईश्वर के स्वरूप का चिंतन। छठे अध्याय में मंत्र और रूप साधना के बारे में भगवान अर्जुन को निर्देश देते हैं कि एक सुखद आसन में बैठकर, अपने शरीर, गर्दन और सिर को सीधा रखकर, अपने ध्यान को नासिकाग्र बिन्दु पर केंद्रित करके ईश्वर का स्मरण करो, मंत्र का जप करो।

इसके बाद श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित चौथा अभ्यास एक उच्च वैदिक साधना है – प्रणव ध्यान साधना, अर्थात् ॐकार पर ध्यान। भगवान कहते हैं कि इस साधना को करने के लिए शान्तिपूर्वक बैठ जाओ और ॐ में अपने चित्त को लगा दो। इन्द्रियों और मन को स्थिर बनाकर ॐ मंत्र का जप करो। ऐसा करते-करते अगर तुम्हारी मृत्यु भी हो जाती है, तो तुम परमगति को प्राप्त करोगे। प्रणवाक्षर एक ऐसा सिद्ध मंत्र है, जिसे अगर सही तरीके से किया जाए, अर्थात् इन्द्रियों के सभी दरवाजों को बंद कर, मन को स्थिर बनाकर किया जाए, तो इस मंत्र में तुम्हें परमात्मा से मिलाने की क्षमता है। यह कृष्ण जी का वचन है, जो हम लोगों के लिए अमूल्य आश्वासन है।

इस प्रकार सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यम-नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान के बारे में बतलाते हुए कहा है कि यही अभ्यास तुम्हारी समस्या का समाधान हैं, इनको करो।

ईश्वर का दिव्य स्वरूप

श्रीकृष्ण के उपदेशों से नवें अध्याय तक अर्जुन का उपचार हो जाता है। वह कहता है, 'मेरा मस्तिष्क अब धीरे-धीरे साफ हो रहा है, लेकिन कुछ प्रश्न शेष हैं, उनका उत्तर दीजिए। आप कहते हैं कि आप ही सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त हैं, आप यह भी कहते हैं कि मुझमें चित्त को लगा दो। आप निराकार हैं या साकार? यह बतलाइये कि आप वास्तव में कौन हैं?'

तब दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी दिव्य विभूतियों के बारे में बतलाते हैं। विभूतियों की जानकारी मिलने के बाद अर्जुन कहता है कि मुझे अपना व्यापक विश्वरूप दिखलाइये। फिर ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को विश्वरूप दर्शन होता है, जिसमें वह देखता है कि भगवान हर एक वस्तु में व्याप्त हैं। वह प्रश्न करता है, 'भगवन्, कोई भक्त आपके निराकार रूप को भजता है और कोई साकार रूप को। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?'



भक्तों के लक्षण

बारहवें अध्याय में भगवान अर्जुन को सच्चे भक्त के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं, 'अर्जुन! दोनों तरह के उपासकों में न कोई निम्न है और न ही कोई उच्च। दोनों की अपनी पद्धति है। लेकिन मुझे जो भक्त प्रिय है, उसके लक्षण तुम्हें बतलाता हूँ।'

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥12.13॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥12.14॥

'जो पुरुष सब प्राणियों में द्वेषभाव से रहित, स्वार्थरहित, सबका हितैषी, दयालु, ममता और अहंकार से रहित, सुख-दुःख में समभावी, क्षमाशील, सन्तुष्ट, निरंतर योगयुक्त और संयमी है, तथा जिसका मन और बुद्धि मुझमें पूर्णतया समर्पित है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है।' इस प्रकार बारहवें अध्याय के अंतिम आठ श्लोकों में, जिन्हें अमृताष्टक भी कहा जाता है, भगवान एक श्रेष्ठ भक्त, एक श्रेष्ठ साधक के गुणों का पूरा विवरण देते हैं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥12.15॥

'जिससे कोई भी प्राणी उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, ईर्ष्या, भय और उद्वेग आदि से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है।'

अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ:।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्त: स मे प्रिय: ॥12.16॥

'जो पुरुष आकांक्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, निपुण, पक्षपात से रहित और दु:खों से छूटा हुआ है, सब कर्मों का वह त्यागी मेरा भक्त मुझे प्रिय है।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय: ॥12.17॥

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।'

सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: संगविवर्जित: ॥12.18॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर: ॥12.19॥

'जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी और सुख-दु:खादि द्वन्द्वों में सम है और आसक्ति से रहित है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा सन्तुष्ट है और निवास स्थान के प्रति ममता और आसक्ति से रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।'

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया: ॥12.20॥

'जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत का निष्काम प्रेम भाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।'भगवान बार-बार कहते हैं कि इन उत्तम गुणों से युक्त व्यक्ति ही मुझे प्रिय

है। और जिसमें ये गुण नहीं हैं, वह मुझे मान्य तो है, लेकिन प्रिय नहीं है। जैसे माता-पिता को गुणी संतान ज्यादा प्रिय होती है, वैसे ही भगवान को भी गुणी भक्त ज्यादा प्रिय हैं। यदि हम भगवान के प्रिय बनना चाहते हैं तो हमें एक आदर्श भक्त के आचरण और चरित्र को अपने जीवन में उतारना होगा।

आगे जब अर्जुन पूछता है कि जीवन में अभिव्यक्ति का क्षेत्र कौन-सा है, तो भगवान तेरहवें अध्याय में बतलाते हैं कि पूरा संसार ही उसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र है। इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विषय – यह सब उसकी अभिव्यक्ति का क्षेत्र है।

चौदहवें अध्याय में इस अभिव्यक्ति के क्षेत्र में जो गुणों का असर होता है, वह बतलाया गया है। जब तमोगुण आता है, तब मनुष्य किस प्रकार से प्रमादयुक्त होता है; जब रजोगुण आता है, तब किस प्रकार से योगभ्रष्ट होता है; और जब सत्त्वगुण आता है, तब किस प्रकार से दैवी-संपदा को प्राप्त करता है।

पन्द्रहवें अध्याय में भगवान पुरुषोत्तम योग की चर्चा करते हैं। सोलहवें अध्याय में वे दैवी और आसुरी प्रकृतियों का अंतर समझाते हैं। सत्रहवें अध्याय में वे ॐ के बारे में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण श्लोक कहते हैं –

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥17.23॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि ॐ ब्रह्म का ही एक नाम है। उसी प्रकार से तत् और सत् भी परमात्मा के नाम हैं। जो व्यक्ति शास्त्र-विधि से कर्म करता है, तप करता है, नियत यज्ञ और दान करता है, उसकी सभी क्रियाएँ ॐ के उच्चारण से ही आरम्भ होती हैं। मतलब परमात्मा का नाम लेकर ही कर्मों को आरम्भ किया जाए, और परमात्मा का नाम लेकर ही कर्मों को समापन की ओर ले जाना चाहिए। तभी तुम अपने कर्म को ईश्वर को अर्पित कर पाओगे।

मोह का अन्त

इतना सब बतलाकर श्रीकृष्ण का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, क्योंकि अठारहवें अध्याय में अर्जुन स्वीकार करता है –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥18.73॥

'आपकी कृपा से मेरा मोह, आसक्ति तथा भ्रम समाप्त हो गया है, और मैंने स्मृति को प्राप्त कर लिया है। मैं जान गया हूँ कि मुझे कौन-सा कर्त्तव्य निभाना है, कौन-सा धर्म और न्यायसंगत कर्म करना है। मैं संशय रहित हो गया हूँ। अब मैं तैयार हूँ, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।'

गीता के आरम्भ में धृतराष्ट्र ने संजय से एक प्रश्न किया था–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवश्चैव किमकुर्वत संजयः॥1.1॥

'संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा को लेकर मेरे पुत्रों और पाण्डु के पुत्रों के बीच क्या हुआ?' यह गीता का पहला श्लोक है और संजय इसका उत्तर गीता के अन्तिम श्लोक में धृतराष्ट्र को देते हैं। संजय कहते हैं–

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥18.78॥

हे राजन्! आप क्यों पूछ रहे हो कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में आपके और पाण्डु पुत्रों के बीच में क्या हो रहा है? क्या आपको यह समझ में नहीं आता कि जहाँ पर योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं और जहाँ पर धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं पर श्री है, विजय है, विभूति है और अटल नीति है। ऐसा मेरा मत है और यही गीता की कालजयी शिक्षा है।



नोट



स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

'गीता न तो धर्म शास्त्र है, न ही दर्शन शास्त्र। यह जीवन का शास्त्र है। जीवन की घटनाओं से गुजरता हुआ मन स्वाभाविक रूप से निराशा, शोक, विषाद और अवसाद को प्राप्त करता है। इस मानसिक अवस्था को किस प्रकार सुव्यवस्थित कर सकते हैं, किस प्रकार अपनी प्रतिभा को जाग्रत कर जीवन में आगे बढ़ सकते हैं, यही गीता का संदेश है।'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के अन्तर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये प्रबोधक व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

श्रीकृष्ण योग पद्धति, स्वामीजी द्वारा बैद्यनाथेश्वर शंकरबाग, मुंगेर में फरवरी 2012 में दिये सत्संगों का विषय थी। इन सत्संगों में स्वामीजी ने श्रीकृष्ण की उन कालजयी शिक्षाओं की सुन्दर व्याख्या की है, जो अर्जुन के विषाद और निराशा को दूर करने के लिए युद्धभूमि में दी गयी थीं। स्वामीजी ने गीता को एक नवीन दृष्टिकोण से समझाते हुए, इस शास्त्र में वर्णित विभिन्न साधनाओं का व्यावहारिक एवं प्रेरक निरूपण प्रस्तुत किया है।



ISBN :978-93-81620-42-7